विवेक-ज्योति
हिन्दी
त्रैमासिक
विवेकानन्द आश्रम रायपुर

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

## हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९७७ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

**स्वामी आत्मानन्द**

व्यवस्थापक

**ब्रह्मचारी चिन्मयचैतन्य**

वार्षिक ५) | वर्ष १५ अंक १ | एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

फोन : २४५८९

# अनुक्रमणिका

—।०।—



---

कवर चित्र परिचय – **स्वामी विवेकानन्द**

(शिकागो की धर्ममहासभा में, सितम्बर, १८९३)

---

मुद्रणस्थल : **नरकेसरी प्रेस**, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

## हिन्दी त्रैमासिक


वर्ष १५ ] जनवरी-फरवरी-मार्च * १९७७ * [ अंक १


## मन ही अविद्या

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता
मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः ।
तस्मिन् विनष्टे सकलं विनष्टं
विजृम्भितेऽस्मिन् सकलं विजृम्भते ।।

--मन को छोड़कर अविद्या और कुछ नहीं है। मन ही भवबन्धन की हेतुभूता अविद्या है। उसके नष्ट होने पर सब कुछ (अज्ञान एवं उसका कार्यसमूह) नष्ट हो जाता है और वह जब जाग्रत् होता है, तभी सब कुछ प्रतीत होने लगता है।

--विवेकचूड़ामणि, १६९

# जैसी बुद्धि वैसी सिद्धि

किसी गाँव में मन्दिर के पास एक संन्यासी रहा करता। उसकी कुटिया के ठीक सामने एक वेश्या का घर था। संन्यासी देखता कि वेश्या के यहाँ हरदम पुरुषों का आना-जाना चला रहता है। एक दिन उसने वेश्या को बुलवाया और उसे चेतावनी देते हुए कहा, "तुम बड़ी पापिन हो, दिन और रात पाप-कर्मों में लिप्त रहती हो। क्या कभी सोचा है कि तुमने अपना परलोक किस प्रकार विगाड़ लिया है? मरने के बाद तुम्हारा क्या होगा, कोई खबर है?" वेश्या बेचारी आतंकित हो गयी और उसे अपने किये का पछतावा होने लगा। पश्चात्ताप की आग में झुलसते हुए वह भगवान् से अपने पापों की क्षमा माँगने लगी। पर चूँकि उसने अब तक वेश्यागिरी ही की थी, उसे उपार्जन का और कोई साधन नहीं दीख पड़ा। अतः बाध्य हो उसे अपना पुराना पेशा ही अपनाना पड़ा। किन्तु जब कभी वह पाप-कर्म करती, तो अपने को कोसती और अधिक ग्लानिपूर्वक भगवान् से क्षमा की प्रार्थना करती।

संन्यासी ने देखा कि उसके उपदेश का वेश्या पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। उसने सोचा, "जरा देखूँ, इस पतिता के पास जीवन भर में कितने आदमी जाते हैं।" और उसने उस दिन से लोगों को गिनना शुरू कर दिया। जब कोई आदमी उस वेश्या के घर घुसता, तो वह एक कंकड़ उठाकर एक कोने में डाल देता। कालान्तर में वहाँ कंकड़ों का एक बड़ा ढेर खड़ा हो गया। एक दिन उसने

वेश्या को बुलवाया और उससे कहा, "अरी, तू इस ढेर को देख रही है ? यह तेरे पापों का लेखा-जोखा है । जब से मैंने तुझे बुलाकर समझाया था और पाप-कर्म करने से मना किया था, तब से देख, तेरे पास कितने आदमी आये । तूने तो मेरी बात सुनी नहीं । इस ढेर का हर कंकड़ गवाह है कि तेरे पास कितने आदमी गये । अब भी चेत जा । पाप को और मत बढ़ा ।" वेश्या अपने पापों के उस ढेर को देख भय से काँपने लगी और नितान्त बेबस हो आँसू बहाते हुए भगवान् से प्रार्थना करने लगी, "प्रभु, क्या मुझे इस नारकीय जीवन से नहीं उबारोगे ? क्या मैं जीवन भर इस कीचड़ में ही सड़ती रहूँगी ? कृपा करो, प्रभु ! मैं दुर्बल हूँ, पतिता हूँ, मेरा उद्धार करो ।"

उसकी प्रार्थना सुन ली गयी और उसी दिन मौत का परवाना उसके पास आ पहुँचा । उसके प्राणपखेरू उड़ गये । और यह भी भगवान् की विचित्र लीला रही कि वह संन्यासी भी उसी दिन कालकवलित हो गया । स्वर्ग से विष्णुदूत आये और वे उस वेश्या की आत्मा को स्वर्ग की ओर ले जाने लगे, जबकि इधर संन्यासी की आत्मा को लेने के लिए यमदूत आये और वे उसे बाँधकर नरक की ओर जाने लगे । संन्यासी वेश्या की सद्गति और अपनी दुर्गति देख जोरों से चिल्ला पड़ा, "क्या भगवान् का यही न्याय है ? मैंने अपना सारा जीवन तपस्या और निर्लोभ में बिताया, और उसका फल मुझे नरक मिल रहा है ! और यह वेश्या सारा जीवन पापाचार करती रही, पर वह स्वर्ग

जा रही है ! धन्य है, प्रभु, तेरा न्याय धन्य है !" यह सुन विष्णुदूत बोले, "ईश्वर कभी किसी पर अन्याय नहीं करता। जैसी बुद्धि, वैसी सिद्धि। तुमने अपना सारा जीवन दिखावे में बिताया, तुम अपने नाम और यश की चिन्ता में लगे रहे, तुमने कभी भीतर से प्रभु को नहीं चाहा। अतएव प्रभु ने तुम्हें यही दिया। यह वेश्या भले ही पाप-कर्म करने के लिए बाध्य हो जाती थी, पर वह दिनरात प्रभु से ग्लानि-भरे स्वर में क्षमायाचना करती रहती। नीचे देखो, तुम्हारे शरीर और वेश्या के शरीर की क्या गति हो रही है। तुमने चूँकि शरीर का कोई पाप नहीं किया, लोग तुम्हारे शरीर को फूल और मालाओं से सजाकर, बाजे-गाजे के साथ पावन जल में विसर्जित करने ले जा रहे हैं। और इस वेश्या का शरीर देखो, किस प्रकार चील और कौए उसे नोच-नोचकर खा रहे हैं। परन्तु फिर भी वह हृदय से शुद्ध थी और इसीलिए शुद्ध चित्तवालों द्वारा प्राप्त लोक के लिए वह प्रस्थान कर रही है, जबकि तुम्हारा हृदय अशुद्ध था, तुम हरदम उसके पापों का ही चिन्तन करते थे और इसलिए तुम्हारा हृदय पापमय हो गया था। इसीलिए तुम्हें नरक जाना पड़ रहा है। वास्तव में वेश्या तो तुम थे, वह नहीं !"

•

# अग्नि-मंत्र

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

द्वारा श्री जार्ज डब्ल्यू० हेल,
५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो,
१८९४

प्रिय शशि,

तुम लोगों के पत्र मिले। बड़ा आनन्द हुआ। मजूमदार की कारस्तानी सुनकर अत्यन्त दु:ख हुआ। जो दूसरे को धक्के देकर आगे बढ़ना चाहता है, उसका आचरण ऐसा ही होता है। मेरा कोई अपराध नहीं। वह दस वर्ष पहले यहाँ आया था, उसका बड़ा आदर हुआ और खूब सम्मान मिला। अब मेरे पौ बारह हैं। श्री गुरु की इच्छा, मैं क्या करूँ! इसके लिए गुस्सा होना मजूमदार की नादानी है। खैर, **उपेक्षितव्यं तद्वचनं भवत्सदृशानां महात्मनाम्। अपि कीटदंशनभीरुकाः वयं रामकृष्णतनयाः तद्हृदयरुधिरपोषिताः। 'अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं निन्दन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्' इत्यादीनि संस्मृत्य क्षन्तव्योऽयं जाल्मः।*** प्रभु की इच्छा है कि इस देश के

* तुम जैसे महात्माओं को चाहिए कि उसकी उपेक्षा करो। हम रामकृष्णतनय हैं, उन्होंने अपने हृदय के रुधिर से हमें हृष्ट-पुष्ट किया है। क्या हम कीड़े के काटने से डर जायँ। 'मन्दबुद्धि मनुष्य महात्माओं के असाधारण और सहज ही, जिनका कारण नहीं बतलाया जा सकता, ऐसे आचरणों की निन्दा किया करते हैं।' (कुमार सम्भव)——आदि वाक्यों का स्मरण करके इस मूर्ख को क्षमा करना।

लोगों में अन्तर्दृष्टि जाग्रत् हो। फिर क्या यह किसी की शक्ति के भीतर है कि उसकी गति को रोक सके? मुझे नाम की आवश्यकता नहीं— I want to be a voice without a form.† हरमोहन आदि किसी को मेरा समर्थन करने की आवश्यकता नहीं—**कोऽहं तत्पादप्रसरं प्रतिरोद्धुं समर्थयितुं वा, के वान्ये हरमोहनादयः? तथापि मम हृदयकृतज्ञता तान् प्रति। 'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'—नैषः प्राप्तवान् तत्पदवीमिति मत्वा करुणादृष्टया द्रष्टव्योऽयमिति।**‡ प्रभु की इच्छा से अभी तक नाम-यश की आकांक्षा हृदय में उत्पन्न नहीं हुई है, शायद होगी भी नहीं। मैं यन्त्र हूँ, वे यन्त्री हैं! वे इस यन्त्र द्वारा इस दूर देश में हजारों हृदयों में धर्मभाव उद्दीप्त कर रहे हैं। हजारों स्त्री-पुरुष मुझसे यहाँ प्रेम एवं श्रद्धा रखते हैं। **मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्***—मुझे उनकी कृपा पर आश्चर्य है।

---

† मैं निराकार वाणी हो जाना चाहता हूँ।

‡ उनके प्रभाव-विस्तार की गति में बाधा देनेवाला या उसकी सहायता करनेवाला मैं कौन हूँ? हरमोहन इत्यादि भी कौन हैं? फिर भी सबके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। 'जिस अवस्था में स्थित हो जाने पर मनुष्य कठिन दुःख में भी विचलित नहीं होता' (गीता)—इस मनुष्य को अभी वह अवस्था नहीं मिली, यह सोचकर इसके प्रति दयादृष्टि रखनी चाहिए।

* मूक को वाक्शक्तिसम्पन्न और लँगड़े को पर्वत पार कर जाने में समर्थ करते हैं।

जिस भी शहर में जाता हूँ, उथल-पुथल मच जाती है। वहाँ वालों ने मेरा नाम रखा है, Cyclonic Hindu.† याद रखना, सब उनकी ही इच्छा से होता है— I am a voice without a form.

इंग्लैण्ड जाऊँगा या यमलैण्ड (यमपुरी) जाऊँगा, प्रभु जाने। वही सब बन्दोबस्त कर देगा। इस देश में एक सिगार की कीमत एक रुपया है। किराये की गाड़ी पर एक बार चढ़ने में तीन रुपये खर्च हो जाते हैं; एक कुर्ते की कीमत १०० रुपया है। नौ रुपये रोज का होटल खर्च है। सब प्रभु जुटा देते हैं। . . . प्रभु की जय, मैं तो कुछ भी नहीं जानता। **सत्यमेव जयते नानृतम्, सत्यनैव पंथा विततो देवयानः।*** तुम्हें निर्भय होना चाहिए। डरते हैं कापुरुष, वही आत्मसमर्थन भी करते हैं। हममें से कोई भी मेरा समर्थन करने के लिए लोहा न ले। मद्रास और राजपूताने की खबर मुझे बीच बीच में मिलती रहती है। 'इण्डियन मिरर' ने तबेले की बला बन्दर के सिर लादनेवाली कहावत को चरितार्थ करते हुए मुझसे खूब चुटकियाँ ली हैं—सुनी किसी की बात, और डाल

---

† आँधी की तरह, अपने सामने जिस किसी को पाता है, उलट-पुलट देता है—ऐसा शक्तिशाली हिन्दू।

* सत्य की ही विजय होती है, मिथ्या की नहीं। सत्यबल से ही देवयानमार्ग की प्राप्ति होती है (मुंडकोपनिषद् ३।६)। वेदान्त के मत से मृत्यु के पश्चात् जितनी गतियाँ होती हैं, उनमें से देवयान द्वारा प्राप्त गति श्रेष्ठ है। वनों में उपासना करनेवाले और भिक्षापरायण निष्काम संन्यासियों की ही यह गति होती है।

दी गयी किसी के सर। सब खबरें पाता हूँ। अरे, भाई, ऐसी आँखें हैं, जो ७००० कोस दूर तक देख सकती हैं, यह बात बिल्कुल सच है। अभी चुप रहो, धीरे धीरे समय पर सब बातें निकल आएँगी—जहाँ तक उनकी इच्छा होगी, उनकी एक बात भी झूठ नहीं होने की। भाई, कुत्ते-बिल्ली की लड़ाई देखकर क्या कहीं मनुष्य दुःखी होते हैं ? इसी तरह साधारण मनुष्यों का लड़ाई-झगड़ा और ईर्ष्या-द्वेष देखकर तुम लोगों के मन में कोई दूसरा भाव न आना चाहिए। आज छह महीने से कह रहा हूँ कि पर्दा हट रहा है और सूर्य उदित हो रहा है, हाँ, पर्दा उठता जाता है, धीरे धीरे उठता जाता है, slow but sure (धीरे धीरे, परन्तु निश्चित रूप से)। समय आने पर तुम इसे जान जाओगे। वे जानें—'मन की बात क्या कहूँ सखी !—कहने की मनाही है।' भाई, ये सब लिखने-कहने की बातें नहीं। तुम लोगों को छोड़ मेरा पत्र कोई न पढ़े। पतवार न छोड़ना, उसे कसके पकड़े रहो,—हम उसे ठीक से खे रहे हैं, इसमें जरा भी भूल न होने पाये; रही पार जाने की बात, सो आज या कल—बस, इतना ही। दादा, Leader (नेता) क्या कभी बनाया जा सकता है ? नेता पैदा होता है, समझे ? और फिर लीडरी करना बड़ा कठिन काम है—**दासस्य दासः**—'दासों का दास' और हजारों आदमियों का मन रखना। Jealousy, selfishness (ईर्ष्या, स्वार्थपरता) जब जरा भी न हों, तभी तुम नेता बन सकते हो। पहले

तो by birth (जन्मसिद्ध), फिर unselfish (निःस्वार्थी) हो, तभी कोई नेता वन सकता है। सब कुछ ठीक ठीक हो रहा है, सब ठीक हो जायगा। प्रभु ठीक जाल फेंक रहे हैं, वे ठीक जाल खींच रहे हैं—**वयमनुसरामः, वयमनुसरामः, प्रीतिः परमसाधनम्**'† समझे? Love conquers in the long run.‡ हैरान होने से काम नहीं चलेगा—Wait, wait (प्रतीक्षा करो)—धैर्य धारण करने पर सफलता अवश्यम्भावी है...।

तुमसे कहता हूँ, भाई, जैसा चलता है, चलने दो—परन्तु देखना, कोई form (बाह्य अनुष्ठान-पद्धति) अनिवार्य न वन जाय—unity in variety (बहुत्व में एकत्व)—इसका ध्यान रखना कि सार्वजनिक भाव में किसी तरह की बाधा न हो। Everything must be sacrificed, if necessary, for that one sentiment—Universality.* मैं मरूँ, चाहे बचूँ, देश जाऊँ या न जाऊँ, तुम लोग अच्छी तरह याद रखना कि सार्वजनीनता—perfect acceptance, not tolerance only, we preach and perform. Take care how you trample on the least rights of others. § इसी भँवर में बड़े वड़े जहाज डूब गये हैं। याद रखो कि कट्टरतारहित पूर्ण निष्ठा ही हमें दिखानी

---

† हम लोग उनका अनुसरण करेंगे, प्रीति ही परम साधन है।

‡ अन्त में प्रेम की विजय होती ही है।

* यदि आवश्यक हो, तो सार्वजनिकता के भाव की रक्षा के लिए सब कुछ छोड़ना होगा।

§ हम लोग सब धर्मों के पूर्ण स्वीकार का—केवल उनके प्रति

होगी। उनकी कृपा से सब ठीक हो जायगा। मठ कैसे चल रहा है? उत्सव कैसा रहा? गोपाल दादा और हुटको कहाँ और कैसे हैं? और गुप्त कहाँ हैं और कैसे हैं? लिखना। सबकी इच्छा है कि नेता बनें—परन्तु नेता तो पैदा होता है यह न समझने के कारण इतना अनिष्ट होता है। प्रभु की कृपा से राम दादा शीघ्र ही ठण्डे हो जायँगे और समझ सकेंगे। उनकी कृपा से कोई भी वंचित न रहेगा। जी० सी० घोष क्या कर रहे हैं?

हमारी माताएँ सकुशल तो हैं? गौरी माँ कहाँ हैं? हजारों गौरी माताओं की आवश्यकता है, जिनमें उन्हीं के समान noble stirring spirit (महान् एवं तेजोमय भाव) हो। आशा है, योगेन माँ आदि सभी सकुशल होंगे। भैया, मेरा हृदय इतना भरपूर हो रहा है कि लगता है कि बाद में भाव को सँभाल न सकूँगा। महिम चक्रवर्ती क्या कर रहा है? उसके पास आते-जाते रहना, वह भला आदमी है। हम सभी को चाहते हैं—It is not at all necessary that all should have the same faith in our Lord as we have, but we want to unite powers of goodness against all the powers of evil.* मास्टर महाशय को मेरी ओर से अनुरोध करो। He can do it

सहिष्णुता मात्र का भाव नहीं,—पालन करते हैं और उनका प्रचार करते हैं। सावधान रहना कि कहीं तुम दूसरों के अधिकारों में हस्तक्षेप तो नहीं करते।

* इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि हमारे प्रभु (श्रीरामकृष्ण)

(वे यह कर सकते हैं)। हममें एक बड़ा दोष यह है कि हम अपने संन्यास-धर्म के प्रति गर्व का अनुभव करते हैं। पहले-पहल उसकी उपयोगिता थी, अब तो हम लोग पक गये हैं, उसकी अब बिल्कुल आवश्यकता नहीं। समझे? संन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद न करना चाहिए, तभी वह यथार्थ संन्यासी हो सकेगा। सभी को बुलाकर कहना—मास्टर, जी० सी० घोष, राम दादा, अतुल इत्यादि सभी को—कि ५-७ लड़कों ने, जिनके पास एक पैसा भी न था, मिलकर एक काम शुरू किया और जो अब तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है—वह सब क्या कोरा पाखण्ड है, या प्रभु की इच्छा? यदि प्रभु की इच्छा है, तो तुम लोग गुट्टबाजी और jealousy (ईर्ष्या) छोड़कर united action (एक होकर कार्य) करो। Shameful (लज्जा की बात है)—हम लोग Universal Religion (सार्वजनीन धर्म) बनाने जा रहे हैं गुट्टबाजी करके। अगर गिरीश घोष, मास्टर और राम बाबू उसे कार्य में परिणत कर सकें, तो मैं उन्हें बहादुर तथा ईमानदार समझूँगा; अन्यथा वे झूठे nonsense (कुछ काम के नहीं) हैं।

यदि सभी किसी दिन एक क्षण के लिए भी समझ सकें कि सिर्फ इच्छा होने से ही कोई बड़ा नहीं हो जाता, और यह कि जिसे प्रभु उठाते हैं, वही उठता है, जिसे वे गिराते हैं,

---

पर हमारे ही जैसा सबका विश्वास हो। हम केवल संसार की सम्पूर्ण अहितकारी शक्तियों के विरुद्ध सम्पूर्ण कल्याणकारी शक्तियाँ एकत्र करना चाहते हैं।

वह गिरता है, तो उलझन कुछ सुलझ जाय। परन्तु वह 'अहं'--खोखला अहं--जिसके पास पत्ता खड़काने तक की शक्ति नहीं, अगर दूसरे से कहे, मैं किसी को 'उठने न दूँगा', तो कितनी उपहासास्पद बात है! वही jealousy (ईर्ष्या) और absence of conjoined action (सम्मिलित होकर कार्य करने की शक्ति का अभाव) गुलाम जाति का nature (स्वभाव) है; परन्तु हमें इसे उखाड़ फेंकने की चेष्टा करनी चाहिए। यही terrible jealousy हमारी characteristic है--(यही भयानक ईर्ष्या हमारा प्रधान लक्षण है।)... दस-पाँच देश देखने से यह अच्छी तरह मालूम हो जायगा। हम यहाँ वालों से स्वाधीनता पाये हुए नीग्रो के समान हैं, जो अगर उनमें से कोई भी उन्नति करके बड़ा आदमी हो गया, तो वे White (गोरों) के साथ मिलकर उसे नेस्त-नाबूद कर देने के लिए जी-जान से प्रयत्न करते हैं। हम ठीक वैसे ही हैं। गुलाम कीड़े--पैर उठाकर रखने को भी ताकत नहीं--बीवी का आँचल पकड़े ताश खेलते और हुक्का गुड़गुड़ाते हुए जिन्दगी पार कर देते हैं, और अगर उनमें से कोई एक कदम बढ़ जाता है, तो सबके सब उसके पीछे पड़ जाते हैं--हरे हरे! At any cost, any price, any sacrifice (जिस तरह से भी हो और इसके लिए हमें चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े, चाहे कितना ही त्याग करना पड़े) हमें यह प्रयत्न करना होगा कि यह भाव हमारे भीतर न घुसने पाये। हम दस हों, या दो--do not care (परवाह नहीं), परन्तु जितने हों, perfect character (सम्पूर्ण आदर्श चरित्र)

हों। हमारे भीतर जो आपस में किसी की चुगली करे, या सुने, उसे निकाल देना उचित है। यह चुगली ही सर्वनाश का मूल कारण है, समझे ? हाथ दर्द करने लगा।. . .अब अधिक नहीं लिख सकता। 'माँगो भलो न बाप से, रघुबर राखें टेक', रघुबर टेक रखेंगे, दादा--इस विषय में तुम निश्चिन्त रहो। बंगाल में उनके नाम का प्रचार हो या न हो, इसकी मुझे परवाह नहीं। राजपूताना, पंजाब, N.W.P. (उत्तर-पश्चिम प्रान्त), मद्रास आदि प्रान्तों में उनका प्रचार करना होगा। राजपूताने में जहाँ 'रघुकुल रीति सदा चलि आयी, प्राण जाइ बरु बचन न जायी', अभी तक विद्यमान है।

चिड़िया अपनी उड़ान के दर्मियान उड़ते उड़ते एक जगह पहुँचती है, जहाँ से अत्यन्त शान्त भाव से वह नीचे की ओर देखती है। क्या तुम वहाँ पहुँच चुके हो ? जो लोग वहाँ नहीं पहुँचे हैं, उन्हें दूसरे को शिक्षा देने का अधिकार नहीं। हाथ-पैर ढीले करके धारा के साथ बह जाओ और तुम अपने गन्तव्य पर पहुँच जाओगे।

सर्दी धीरे धीरे भाग रही है और जाड़ा तो मैंने किसी तरह काट दिया। जाड़े में यहाँ तमाम देह में electricity (बिजली) भर जाती है। Shake hand (करमर्दन) करो, तो shock (आघात) लगता है और उससे आवाज आती है। अँगुलियों से गैस जलायी जा सकती है। और सर्दी का हाल तो मैंने लिखा ही है। सारे देश में अपनी धाक जमाये फिरता हूँ, परन्तु शिकागो मेरा 'मठ' है, जहाँ घूम-फिरकर मैं फिर आ जाता हूँ। इस समय पूरब

को जा रहा हूँ। कहाँ बेड़ा पार होगा, प्रभु ही जानें। माताजी जयरामवाटी गयी हैं, आशा है, उनका स्वास्थ्य अव ठीक हो गया होगा। तुम लोगों का कैसा चल रहा है, कौन चला रहा है? क्या रामकृष्ण, उनकी माँ, तुलसीराम इत्यादि उड़ीसा गये हैं?

. . . क्या दाशु की तुम लोगों पर वैसी ही प्रीति है? वह प्रायः आया करता है न? भवनाथ कैसा है और वह क्या कर रहा है? तुम लोग उसके पास जाते हो या नहीं और उसकी मान-जान करते हो या नहीं? सुनो, संन्यासी-फन्यासी झूठ बात है--मूकं करोति वाचालं, इत्यादि। किसके भीतर क्या है, समझ में नहीं आता। श्रीरामकृष्ण ने उसे वड़ा वनाया है और वह हमारा पूज्य है। यदि इतना देख-सुनकर भी तुम लोगों को विश्वास न हो, तो धिक्कार है तुम लोगों को! वह तुम्हें भी प्यार करता है न! उसे मेरा आन्तरिक प्यार कहना। कालीकृष्ण बाबू को भी मेरा प्यार, वे बड़े उन्नतमना व्यक्ति हैं। रामलाल कैसा है? उसे कुछ विश्वास-भक्ति हुई? उसे मेरा प्यार एवं 'नमस्कार'। सान्याल कोल्हू में ठीक घूम रहा है न? उससे कहो कि धैर्य रखो,--कोल्हू ठीक चलता रहेगा। सबको मेरा हार्दिक प्यार।

अनुरागैकहृदयः,

नरेन्द्र

पु०--पूजनीया माताजी को उनके जन्म-जन्मान्तर के दास का साष्टांग प्रणाम--उनके आशीर्वाद से मेरा सर्वांगीण मंगल है।

वि०

०

# श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

( गतांक से आगे )

सम्भवतः माघ का अन्तिम चरण था—शीतकाल समाप्त ही हुआ था। जाड़े की कँपकँपी कट गयी थी। लोग सुबह-शाम सड़कों और गलियों में चलने-फिरने लगे थे। मैमनसिंह से चार भक्त जयरामवाटी में माँ के घर आ उपस्थित हुए। वे माँ के कृपाप्राप्त हैं, उनसे दीक्षा ली है। कुछ दिन पहले माँ मलेरिया से ज्वराक्रान्त थीं। भक्तों का आना-जाना लगभग बन्द-सा था। अब उनके थोड़ा स्वस्थ होते न होते फिर से भक्त-समागम प्रारम्भ हो गया, माँ भी कृपा कर दीक्षा देने लगीं। माँ की अस्वस्थता के समाचार से भक्त व्यग्र और चिन्तित थे। इसीलिए वे उन्हें देखने आये हैं। दो-एक दिन रुक-कर ही चले जाएँगे। अधिक रुकने से माँ को कष्ट होगा। वे सुदूर ग्रामीण अंचल के लोग हैं। उन्हें आधुनिक शिक्षा में शिक्षित या धनी-मानी-गुणी नहीं कहा जा सकता। पर हैं बड़े भक्तिमान—सरल, सीधे और निष्कपट। उन चारों में जो सबसे वयस्क थे, उनकी भी उम्र चालीस से कम ही होगी। बातचीत से मालूम पड़ा कि उन्हें शास्त्रों का भी कुछ ज्ञान है और वे ही दल के नेता हैं। माँ अपने इन बेटों को पाकर परम प्रसन्न हुईं, उनसे स्नेह-पूर्ण वार्तालाप किया और उनके रहने-खाने की उचित व्यवस्था कर निश्चिन्त हुईं। दूसरे दिन वे लोग उनसे अनुमति ले कामारपुकुर-दर्शन के लिए रवाना हुए ही थे

कि कुछ बूँदाबाँदी होने लगी। यह सोचकर कि वे लोग कष्ट पाएँगे, माँ उद्विग्न हो गयीं। दूसरे दिन अपराह्न में जब भक्तगण लौटकर आये, तो मालूम पड़ा कि माँ की चिन्ता अकारण नहीं थी। दल के नेता को ज्वर हो आया था। देश से आते समय भी उनका स्वास्थ्य कोई अधिक अच्छा नहीं था। कामारपुकुर जाते जाते भीग जाने से उन्हें बुखार चढ़ आया। जब भक्त लोग जयरामवाटी से कामारपुकुर जाते, तो माँ उन्हें बता दिया करतीं कि वहाँ जाकर क्या क्या देखना है, कभी तो उनके हाथ गृहदेवता रघुवीर और शीतलामाता के लिए फल-फूल मिठाई आदि भिजवा देतीं। जब भक्तगण लौटते तो उनसे वहाँ के कुशल-समाचार आदि पूछतीं। जयरामवाटी में भी सिंहवाहिनी के दर्शन, उनकी पूजा-प्रार्थना, वहाँ की मिट्टी ले जाना आदि के सम्बन्ध में वे भक्तों को बतलातीं, कहतीं कि देवी बड़ी जाग्रत् है और उसकी कृपा से तुम सबका कल्याण होगा। सिंहवाहिनी मन्दिर की नींव की मिट्टी उस अंचल में माता की बीमारी में रामबाण दवा मानी जाती है। माँ प्रचलित किम्वदन्तियों पर सरल मन से विश्वास करतीं। तो, इन भक्तों से कामारपुकुर-दर्शन के समाचार से माँ प्रसन्न हुईं पर अस्वस्थ सन्तान के लिए वे विशेष रूप से चिन्तित और उद्विग्न हो गयीं।

माँ के यहाँ एक धर्मार्थ औषधालय है, वहाँ होम्योपैथी की दवाएँ दी जाती हैं। मलेरिया के लिए ऐलोपैथी

की कुछ पेटेंट दवाएँ, जैसे कुनैन आदि, भी वहाँ उपलब्ध रहती हैं। अस्वस्थ सन्तान के लिए दवा और पथ्य की यथाशक्ति उचित व्यवस्था की गयी, उसकी सुख-सुविधा के लिए जो कुछ बन पड़ा किया गया। माँ थोड़ी थोड़ी देर में उसकी खोज लेने लगीं। पर उसका रोग शान्त होने के बदले बढ़ चला। सभी चिन्तित हो उठे। मकान छोटा है, लोग अनेक हैं, रोगी को रखने की जगह नहीं है। शौचादि की भारी असुविधा है। फिर, माँ की चिन्ता, उद्विग्नता बढ़ती जा रही है। डर होने लगा कि कहीं वे फिर से बीमार न पड़ जायँ। आगन्तुक भक्त जयरामवाटी छोड़कर चले जाने के लिए उत्कण्ठित हो उठे। दो-तीन दिन में जब रोग कम न हुआ, तो परामर्श करके रोगी को कोआलपाड़ा आश्रम में ले जाना स्थिर हुआ। रोगी भी जाने के लिए आग्रह करने लगा। माँ से जब यह बात कही गयी, तो उन्होंने निर्निमेष नेत्रों से गम्भीरतापूर्वक वह सब सुना, पर उस पर हाँ या नहीं अपना कोई मतामत प्रकट न किया। यह जानी बात थी कि अस्वस्थ बेटे का जाना वे पसन्द नहीं करेंगी, पर दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं था। यहाँ रोगी की समुचित चिकित्सा कठिन थी, साथियों के रहने की असुविधा थी, स्थानाभाव था; भक्त, अतिथि, अभ्यागत आते ही रहते थे। कोआलपाड़ा में सरकारी दवाखाना था, डाक्टर भी अच्छे थे, आश्रम में स्थान भी पर्याप्त था, सभी प्रकार की सुविधा थी। इसके अलावे, माँ के कष्ट की ही अधिक चिन्ता थी। अतः

रोगी को वहाँ से शीघ्र ही ले जाने की व्यवस्था की जाने लगी।

उस दिन माँ के यहाँ अनेक भक्त स्त्री-पुरुष उपस्थित थे। उनमें उनके विशेष स्नेहभाजन आरामबाग के प्रसिद्ध डाक्टर प्रभाकर बाबू की माँ थीं और स्वामी असितानन्द की माँ और भाई थे। देर से भोजन हुआ। भक्तगण एक-एक करके विदा लेने लगे। स्वामी विद्यानन्द आज कोआलपाड़ा आश्रम जाकर रोगी को उसके साथियों के साथ वहाँ पहुँचा आनेवाले थे। पालकी आने की बात थी, पर कहार लोग अभी तक नहीं आये थे। सब लोग व्यग्रता से उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, रास्ते की ओर देख रहे थे। दिन ढलता जा रहा था। माँ बरामदे में बैठ सब देख रही थीं। आखिर कहार पालकी लेकर आये और रोगी को उसमें बिठा वे लोग शीघ्र रवाना हो गये। माँ ने आँखों में आँसू भरकर, नितान्त अनिच्छा और कष्ट के साथ 'दुर्गा दुर्गा' कहकर विदा दी। पालकी के आने से थोड़ा पहले आकाश के कोने में थोड़े बादल घिर आये थे, जो धीरे धीरे घने होते जा रहे थे। बहुतों ने इस पर गौर किया था। यद्यपि बीच में किसी किसी दिन अच्छी खासी बारिश होती रही थी, पर ऐसा सोचकर कि आँधी-बारिश के दिन बीत गये हैं, रोगी को शीघ्र स्थानान्तरित करने की हड़बड़ी में आकाश की वैसी दशा की सबने उपेक्षा कर दी और रोगी को भेज दिया गया। सारा दिन आज माँ को विश्राम नहीं मिला। भक्तों की स्नेहपूर्ण देख-सँभाल, पकाने की व्यवस्था,

पूजा, दीक्षा, नाश्ता कराना, पान सजाना, भोग लगाना, प्रसाद पाना और उसके बाद ही फिर विदाई देना, जो कि एक दुःखप्रद बात थी। माँ और सन्तान में से कोई भी किसी को छोड़ना नहीं चाहती, फिर भी छोड़ना तो होगा ही। ठीक जैसे पूजाबाड़ी की दुर्गापूजा में दशमी का दिन हो। रुग्ण बेटा तो पालकी में रवाना हो गया, और माँ विषण्ण हो चुपचाप बरामदे में अकेले पैर फैलाकर बैठी सब देखती रहीं (गोद पर दोनों हाथों को रखे हुए)। फिर कमरे में जा बिछौने पर लेट गयीं। दिन भर के वाद अब थोड़ा विश्राम मिला। एक शिष्य उनकी सेवा में नियुक्त था। वह सोच रहा था कि माँ के लेटने पर वह भी बैठक में जाकर निश्चिन्त हो विश्राम करेगा, पर दिन को ढलते देख वह वहीं माँ के वरामदे में एक ओर चुपचाप बैठा रहा कि कोई आकर माँ के आराम में कहीं बाधा न डाल दे।

देखते देखते सारा आकाश वादलों से ढँक गया। चारों दिशाएँ अन्धकार से भर उठीं, अचानक पवन का एक प्रबल झोंका आया और सनसनाते हुए उसने सदर दरवाजे को जोर का एक धक्का दिया। धड़ाम से आवाज हुई। सब लोग चौंक उठे। कालवैशाखी* के समान आँधी के साथ मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो गयी। आँधी की आवाज सुनते ही माँ 'मेरे बेटे का क्या होगा, भगवान्' कहकर आर्तस्वर में चिल्लाते चिल्लाते बिस्तर से उतर

* बंगाल में चैत्र-वैशाख में अपराह्न में होनेवाली आँधीयुक्त वर्षा को 'कालवैशाखी' कहते हैं।

पड़ीं और बरामदे की ओर लपकीं। सिर का कपड़ा खुलकर जमीन पर गिर पड़ा, और केश बिखरकर चारों ओर छितरा गये, मानो वे बेहोशी में हों। बरामदे के किनारे आ, आकाश की ओर देखते हुए वे दोनों हाथों को जोड़, व्याकुल हो रोते रोते बारम्बार प्रार्थना करने लगीं, "दुहाई है ठाकुर! मेरे बच्चे की रक्षा करो। मेरे बच्चे की रक्षा करो, ठाकुर।" दोनों आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। शिष्य तो यह देख स्तम्भित रह गया, किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। कुछ बाद अपने को सम्हालकर वह माँ के बाजू में जाकर खड़ा हुआ और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोला, "भय की कोई बात नहीं, अब तक वे लोग देशड़ा पहुँच गये होंगे, राजेन महाराज साथ हैं—बड़े बुद्धिमान और कुशल हैं, कहार भी सब विशेष परिचित हैं, आज्ञाकारी और विश्वासी हैं। फिर, भक्त के संगीगण भी साथ हैं," आदि आदि। इस प्रकार तरह तरह से माँ को सान्त्वना दे, थोड़ा आश्वस्त कर शिष्य उन्हें कमरे में ले आया। कमरे में ठाकुर के चित्र के सामने माँ खड़ी हो गयीं और व्याकुल हो रोने लगीं। आँसू-भरी आँखों से वे बारम्बार प्रार्थना करने लगीं, "दुहाई है ठाकुर! जरा मुँह उठाकर देखो, मेरे बच्चे की रक्षा करो।" शिष्य एक कोने में खड़ा अवाक् हो देखने लगा और सोचने लगा—यह क्या! ठीक ही देख रहा हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ? आँधी-वर्षा कम होने लगी, आकाश भी कुछ साफ होने लगा। माँ को किसी प्रकार समझा-बुझाकर

शिष्य ने बिस्तर पर सुलाया। माँ बिछौने पर चित लेटी लेटी छाती पर दोनों हाथ रख आँसू-भरे नेत्रों से ठाकुर से प्रार्थना करने लगीं, जिससे बेटे को कोई कष्ट न हो पाए। बीच बीच में स्वगत खेद भी प्रकट करने लगीं—"बेटा मेरा कितनी साध लेकर माँ के घर आया था, माँ को देखूँगा, रहूँगा, खाऊँगा, मौज करूँगा; पर दुर्दैव ऐसा, अशुभ मुहूर्त की यात्रा ऐसी कि आते आते रास्ते की तकलीफ भुगती। फिर यहाँ आया। कुछ अच्छा महसूस कर आनन्द मनाने कामारपुकुर गया, तो रास्ते में बरसा मिल गयी, उधर कष्ट भोगा। फिर यहाँ लौटा तो बुखार ने धर दबोचा। किसी भी तरह बुखार जाने का नाम नहीं लेता, कितनी दवादारू की। आज अब कोआलपाड़ा गया है पालकी में, चलने की ताकत नहीं, और रवाना होते न होते यह आँधी और बरसा ! ठाकुर, दुहाई है तुम्हें, मेरे बेटे की रक्षा करो ?" माँ कभी कभी आँखें मूँदकर चुप हो जातीं, फिर दुखी हो आँखों से अश्रुधार बहाने लगतीं। बीच बीच में वे दरवाजे से बाहर की ओर देखने लगतीं। शिष्य कमरे के भीतर माँ के पैरों की ओर खाट के पास बैठ चुपचाप यह अद्भुत व्यापार देख रहा था, सुन रहा था—हृदय मानो स्तम्भित था। लगा कि माँ कुछ देर बाद शान्त हुईं। इतने में फिर अचानक सनसनाती हुई हवा बहने लगी, पानी गिरने लगा। बस त्योंही माँ बिस्तर छोड़ बाहर लपक आयीं। माथे का कपड़ा जमीन पर गिर गया, सिर के केश

बिखर गये। आँखों से आँसुओं की धार बह चली। वे रोने लगीं। कातर हो प्रार्थना करने लगीं, "दुहाई है ठाकुर, मेरे बच्चे की रक्षा करो! एक बार तो मुँह उठाकर देखो।" कभी वे कमरे के भीतर जातीं और ठाकुर के चित्र के सामने कातर क्रन्दन और प्रार्थना करतीं, तो कभी बाहर आकर आकाश की ओर ताकते हुए रोतीं और ठाकुर से विनय करतीं।

इस प्रकार कुछ समय तक चला। रात हुई। कमरे में दीप जलाया गया, धूप-धूना दिया गया। ठाकुर को प्रणाम कर माँ बिस्तर पर बैठ कुछ शान्त होने का प्रयास करने लगीं। आकाश भी कुछ साफ हो गया। शिष्य उन्हें अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर सान्त्वना देने की चेष्टा करने लगा—रास्ते के किनारे ही सारे मकान हैं, राजेन महाराज के लिए सब कुछ जाना हुआ है, अवश्य वे लोग किसी अच्छी जगह में बैठकर विश्राम कर रहे हैं, आदि-आदि। माँ कुछ शान्त ईं तो, पर बीच बीच में उनकी स्वगत खेदोक्तियाँ सुनायी पड़ती थीं। उस दिन यह दुर्योग भी सहज ही नहीं कटा, बीच बीच में आँधी-पानी का क्रम बड़ी देर तक चलता रहा। माँ भी कभी बाहर आतीं, फिर भीतर जातीं और ठाकुर को पुकारतीं। काफी रात बीतने पर आकाश खुला और आँधी-पानो पूरी तरह से रुक गया। इससे माँ कुछ शान्त हो सोयीं अवश्य, पर जब तक दूसरे दिन सुबह राजेन महाराज ने लौटकर उन्हें कुशल-समाचार नहीं दे दिया, तब तक वे निश्चिन्त नहीं हो पायीं। राजेन महाराज ने बताया कि

उन लोगों को तकलीफ नहीं हुई, आँधी-पानी के समय वे लोग देशड़ा में एक के बैठकखाने में बैठकर विश्राम कर रहे थे । बाद में जब बारिश थम गयी, तो एक से लालटेन ले रात में ही कोआलपाड़ा पहुँचकर वहीं भोजन किया गया और सोया गया । रोगी एवं उसके साथ सभी कुशल हैं ।

एक घटना का स्मरण हो आ रहा है । किसी गाँव में एक विधवा का अकेला लड़का दूर मैदान में गाय चराने गया था । शाम को वह घर लौटता । दोपहर में आकाश मेघों से ढँक गया और आँधी-पानी की सूचना देने लगा । लड़के की माँ पुत्र के लिए अस्थिर हो छटपटाने लगी । वह एक क्षण भीतर जाती, तो दूसरे क्षण बाहर आती । उसके हृदय में हाहाकार मच गया । यह दृश्य भी देखने में आया था । पर हमारी इन माँ की व्यथा और व्याकुलता उससे भी अधिक थी । विधवा का बेटा कमाकर उसे खिलाता है, पहनाता है, घर-बार की रक्षा करता है और उसे आराम से रखता है । विधवा की भी उससे कितनी अपेक्षाएँ हैं—बेटा बहू लाएगा, नाती-नातिनें होंगी, घर सुख से भरा भरा रहेगा । किन्तु श्री माँ के दुलार के ये पुत्र उन्हें भला क्या सुख-सान्त्वना देंगे, इन लोगों से वे भला क्या आशा रख सकती हैं ? उनकी एकमात्र आकांक्षा यही है कि उनकी सन्तानों को भगवान् के श्रीचरणों में भक्ति हो और वे सन्पथ पर चलकर सुखपूर्वक रहें ।

(क्रमशः)

०

# धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

*अनुवादक—स्वामी व्योमानन्द*

(गतांक से आगे)

**स्थान–रामकृष्णपुर, हावड़ा**

**अगस्त १९१८**

महाराज नीचे के बैठकखाने में बैठे हुए हैं। कलकत्ते से एक नवयुवक आकर उन्हें प्रणाम करके बैठा। महाराज ने उससे पूछा——तुम लोगों के Students' Home (विद्यार्थी गृह) का काम कैसा चला है ?

उत्तर——अच्छा नहीं चल रहा है। नाना प्रकार की गड़बड़ें हैं।

युवक की बात सुन महाराज ने कहा——मुझसे पहले उन सब विषयों के बारे में क्यों नहीं पूछा ?

महाराज की बात सुन युवक बिना उत्तर दिये, दुःखित और अनुतप्त हो विषण्ण चित्त से बैठा रहा। तब महाराज उसे स्नेह से पुकारकर समझाने लगे——देखो, जिन लोगों का तुम भला करोगे, वे ही तुम्हारा अनिष्ट करेंगे। विद्यासागर महाशय ने लोगों का कितना भला किया, किन्तु जिन लोगों ने उनसे सहायता पायी, उन्हीं ने उनकी निन्दा की, अनिष्ट किया। अन्त में वे लोगों से disgusted (विरक्त) हो गये थे। यह सुन कि किसी ने उनकी निन्दा की है, उन्होंने ऐसा भी कहा——'कहाँ, मैंने तो कभी उसका भला नहीं किया !' यही संसार का धर्म है। पर देखो, सद्-धर्म अन्य प्रकार का है। सद्-भावापन्न व्यक्ति उपकार करते ही जाएँगे, वही उनका स्वभाव है

और दुष्ट लोग अनिष्ट करेंगे, क्योंकि वह उनका स्वभाव है।

एक साधु नदी किनारे बैठकर जप-ध्यान करता था। एक दिन उसने देखा, एक विच्छू पानी में बहता चला जा रहा है। उसके मन में दया हो आयी और वह बिच्छू को हाथ से उठाने लगा। ज्योंही वह बिच्छू को पकड़ने गया, त्योंही उसने डंक मार दिया। साधु दर्द के मारे छटपटानें लगा। कुछ समय बाद फिर से विच्छू पानी में गिरकर डूबने लगा। यह देख साधु ने फिर से उसे उठा दिया। बिच्छू ने पुनः उसे डंक मारा। कुछ समय बाद फिर से विच्छू को पानी में गिरा देख साधु जब उसे पुनः उठाने जा रहा था, तो एक व्यक्ति नें कहा, "देखिए, विच्छू तो आपको बार बार डंक मार रहा है, और आप हैं कि फिर से उसे उठाने जा रहे हैं!" उसकी बात सुनकर साधु ने उत्तर दिया, "विच्छू का स्वभाव है डंक मारना, अतः वह डंक मार रहा है; साधु का स्वभाव है परोपकार करना, अतः मैं वही करूँगा। वह मुझे डंक मार रहा है, इसलिए मैं निर्दय क्यों होऊँ?" यह कह उसने फिर से विच्छू को जल से उठा बहुत दूर फेंक दिया, जिससे वह पुनः जल में न गिर सके। जिन लोगों का सत्-स्वभाव है, वे ऐसा ही करते जाएँगे—वे कभी भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते।

**स्थान—बेलुड़ मठ**

**१९१८**

भगवान् का नाम लेने से देह-मन शुद्ध हो जाते हैं। उनके नाम में ऐसा विश्वास होना चाहिए—मुझे अब डर

क्यों, मेरा अब बन्धन कहाँ ? उनका नाम लेकर मैं अब अमर हो गया हूँ, इस तरह विश्वास कर साधना करनी होगी।

साधन-भजन करने का उद्देश्य क्या है ?--उन्हें जानना, उनकी कृपा प्राप्त करना। काम-कांचन से मन मलिन हो गया है, मन में मैल जम गया है---उसे धोकर साफ करो। कितने जन्म से मन में परत पर परत मैल जमा हुआ है, उसे धोकर यदि साफ न किया जाय, तो हजार प्रयत्न करने पर भी कुछ नहीं होगा। चित्त शुद्ध हुए विना उनकी कृपा नहीं प्राप्त की जा सकती। ठाकुर एक सुन्दर उपमा देते थे--"सुई पर मिट्टी लगी रहने से चुम्बक उसे नहीं खींच सकता, मिट्टी के धो डालने पर चुम्बक उसे खींच लेता है।" उसी प्रकार उनका स्मरण-मनन करने से, सरल हृदय से उनके निकट प्रार्थना करने से---'हे ईश्वर, ऐसा काम और कभी नहीं करूँगा,' यह कहकर अनुताप करने से, खूब व्याकुल होकर रोने से मन का सारा मैल धुल जाता है। तब ईश्वररूप चुम्बक मन-रूप सुई को खींच लेता है। मन के शुद्ध होने पर उनकी कृपा होगी। कृपा होने से दर्शन होता है।

ठाकुर सार्जेण्ट साहब के बारे में एक सुन्दर बात कहते थे---"सार्जेण्ट साहब रात में चोर-लालटेन हाथ में ले घूमता रहता है, उसका चेहरा कोई नहीं देख पाता। किन्तु उस उजाले से वह सबका चेहरा देख सकता है। यदि कोई सार्जेण्ट साहब को देखना चाहता है, तो उसे

उससे प्रार्थना करनी होगी, कहना होगा—'साहब, कृपा कर उजाले को तुम अपने मुँह पर डालो, जिससे तुम्हें एक बार देख सकूँ।' ईश्वर की कृपा पाने के लिए, उनका दर्शन प्राप्त करने के लिए कातर हृदय से उनके पास प्रार्थना करनी होगी। वे ज्ञानसूर्य हैं। वे यदि कृपा कर एक बार अपना प्रकाश अपने मुख पर डाल लें, तभी उनके दर्शन हो सकेंगे।"

जब तक भोगवासना रहती है, तब तक उन्हें जानने या उनके दर्शन करने के लिए प्राण व्याकुल नहीं होते। छोटा बच्चा खिलौना लेकर भला रहता है, मिठाई लेकर भूला रहता है; जब खिलौना या मिठाई अच्छी नहीं लगती, तब माँ के पास जाने के लिए छटपटाता है और रोता है। इसी प्रकार, मनुष्य की भी भोगवासना जब समाप्त होती है, तो भगवान् के लिए वह व्याकुल होता है; तब सब समय उसके मन में यही चिन्ता लगी रहती है कि मैं उन्हें कैसे पाऊँगा।

सदिच्छा क्या सहज ही मन में जगती है? जिनमें सदिच्छा जग गयी है, उन पर भगवान् की विशेष कृपा है, ऐसा जानना। इस महामाया के राज्य में मनुष्य कितने प्रकार से ठोकर खाता है, कितने कष्ट पाता है, फिर भी क्या वह रास्ता बदलना चाहता है? यदि कोई भली सीख दे, तो उस पर नाराज हो जाता है। यही तो मजा है, जानता है कि आग में हाथ डालने से हाथ जल जायगा, फिर भी उसमें बार बार हाथ डालेगा! यही नहीं, और

भी दस लोगों को बुलाकर ले आयगा। यदि कोई उसकी हाँ में हाँ न मिलाए, तो उसे पागल कहेगा, और सम्भव हुआ, तो मारपीट करने से भी बाज नहीं आएगा।

तूने देखा नहीं, लड़का यदि साधु होता है, विवेक-पूर्वक जीवन बिताना चाहता है, तो guardian (अभिभावक) लोग उसे यथासम्भव बाधा देते हैं। किन्तु लड़का यदि दुष्ट हो सबको तंग करे, तो उसे सुधारने के लिए वे sufficient care (यथेष्ट प्रयत्न) नहीं करते। सद्भाव-पूर्वक जीवन बिताने गया कि गड़बड़ी शुरू हो जाती है। वे सब मिलकर किसी भी प्रकार से उसे अपने standard (स्तर) पर ले आने की कोशिश करने लगते हैं। एक साधु के पिता ने मठ में आकर कहा था, "यदि साधु न होकर वह मर जाता, तो मैं अधिक खुश होता। यम के ले जाने पर दूसरा कोई उपाय नहीं रहता। उस पर मेरा कितना भरोसा था! उसे कभी भी धर्मलाभ नहीं होगा। पहले यदि मालूम रहता कि वह ऐसा होगा, तो उसके पैदा होते ही उसे इस संसार से बिदा दे देता--सारी झंझट समाप्त हो जाती!" इसी का नाम है संसार! उसे इतनी समझ नहीं कि यदि लड़का ठीक ठीक साधु हो जाय, तो लड़के के कल्याण के साथ ही साथ उन लोगों का भी कल्याण हो जायगा।

मामूली कारण से भी कभी मनुष्य इतना चंचल हो जाता है कि वह थोड़ा सोच-समझकर काम करने का धैर्य भी खो बैठता है। एक बार जरा एक मिनट के

लिए भी सोचता नहीं कि यह काम करने से मेरा भला होगा या बुरा। यही नहीं, लड़के-बच्चों को भी इस तरह training (शिक्षा) देता है, जिससे वे लोग भी भविष्य में उसके समान धक्का खाएँ। एक तो पहले से ही जन्म-जन्मान्तर के जाने कितने संस्कार पड़े हुए हैं, तिस पर बचपन से ही ऐसी training (शिक्षा) देगा कि उनकी tendency (प्रवृत्ति) भोगवासना की तरफ हो। इतने सब बाधा-विघ्नों को पार कर जो लोग निकले हैं या निकलने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे क्या कम भाग्यवान् हैं ?

उनकी कृपा से जब एक बार निकल सके हो, तो फिर सदैव सावधान रहना कि यह opportunity (सुयोग) लापरवाही से खो न जाय। जी-जान से लगकर खम्भे को (भगवान् को) पकड़ लो। अन्य किसी ओर देखना नहीं। एकमात्र उन्हीं की ओर देखते रहो। वे सम्पूर्ण भार ले लेंगे। तब सब वासनाएँ दूर हो जाएँगी।

इस बुद्धि से क्या उन्हें समझा जा सकता है ? मनुष्य की भला कितनी शक्ति है ? उनके शरणागत होओ। उनकी जो इच्छा हो, वे करें। वे इच्छामय हैं। उन्हें प्यार करना होगा—उनके लिए व्याकुल होना होगा। यदि पागल होना ही है, तो संसार की वस्तु के लिए क्यों पागल होते हो—उनके लिए पागल होओ।

जीवन का उद्देश्य है भगवान्-लाभ—कर्म जीवन का उद्देश्य नहीं है। फिर भी, निष्काम कर्म एक उपाय है। साधन करो और आगे बढ़ जाओ। साधन करते

करते आगे बढ़ने पर जान सकोगे कि ईश्वर ही सार है, बाकी सब असार। थोड़ा जप-तप करने से कुछ उद्दीपना होगी, पर यह न समझ लेना कि जो होना था सो तो हो गया। और भी आगे बढ़ना होगा। तभी उन्हें पा सकोगे और उनके दर्शन से धन्य हो जाओगे—फिर क्रमशः उनके साथ बातचीत भी हो सकेगी।

तर्क और वाद-विवाद बहुत तो किया, अब और क्यों? अब पूरा मन समेटकर उनकी तरफ ले जाओ। मन से कहो—मन, ईश्वर-समुद्र में कूद पड़ो। सब कुछ छोड़-छाड़कर यहाँ तुम आये और यदि सम्पूर्ण मन उनमें न लगाओ तथा समय फालतू बिता दो, तो जानना कि तुम्हारा इहकाल और परकाल दोनों ही गये। जब उन्होंने कृपा करके सद्बुद्धि दी है, तो उनकी कृपा का सद्व्यवहार करो। क्षणिक सुख के लिए अनन्त सुख की बलि नहीं देना। उनसे प्रार्थना करो, "हे प्रभु, तुम्हारे पास जाने के लिए रास्ते में जितने बाधा-विघ्न हैं, उन्हें पार करने की मुझे शक्ति दो।" एक बार यदि उनका आस्वादन पा लो, तो संसार की सारी वस्तुएँ तुच्छ मालूम होंगी—फीकी लगेंगी। संसार में है क्या? धन कहो, नाम-यश कहो, घर-गृहस्थी कहो, लड़के-बच्चे कहो,—कुछ भी तो मनुष्य को शान्ति नहीं दे सकता, बरन् दुःख-कष्ट ही बढ़ाता है।

आँखों के सामने जितने भोग-सुख देख रहे हो, आँखें बन्द कर लेने पर कहीं कुछ नहीं है। ये भोग की वस्तुएँ

अन्धकार से और भी घने अन्धकार में तुम्हें ले जाने की कोशिश कर रहो है। अँधेरे में ठोकर खाते हुए रास्ता चलोगे, या उजाले में ? उजाले का आभास जब पाया है, तो फिर उधर और न देखना। उधर जाने से ही डूब जाओगे। भोगवासना का influence (प्रभाव) इतना प्रबल होता है कि यदि मन में किसी भी प्रकार से उसकी छाप लग जाय, तो वह तीव्र वेग से नीचे ले जायगी, तुम्हें समझने भी न देगी कि तुम नीचे चले जा रहे हो। इन सब विपदाओं से रक्षा पाने का एकमात्र उपाय है स्वयं को सम्पूर्णतया उनके चरणों में निछावर कर देना। उनकी भक्ति से शक्तिमान हुए बिना किसी की सामर्थ्य नहीं कि माया के इस बन्धन से वह स्वयं को बचाकर चल सके। मनुष्य में इतनी सामर्थ्य कहाँ कि उनकी धारणा कर सके ? वे कृपा कर जिसे समझने की शक्ति देते हैं, वही उन्हें समझ सकता है। जिन लोगों ने उनकी कृपा पायी है, केवल वे ही संसार-जाल काटकर भक्ति-मुक्ति के अधिकारी होते हैं।

## स्थान—बेलुड़ मठ

१६१८

उनके शरणागत होना, उनके चरणों में अपने को निछावर कर देना सहज बात नहीं है। जिन्हें हम जानते नहीं, पहचानते नहीं, उन्हें प्यार कैसे करेंगे, खुद को उनमें कैसे डुबा देंगे—ये प्रश्न आप ही आप मन में उठते हैं। एक व्यक्ति ने ठाकुर से एक दिन कहा था, "भगवान् को

पुकारने में मेरा मन नहीं लगता।" उन्होंने पूछा, "तुम किसे प्यार करते हो?" उसने उत्तर दिया, "मेरे पास एक भेड़ है, मैं उसे प्यार करता हूँ।" यह सुन ठाकुर ने कहा, "ठीक है, जब कभी तुम इस भेड़ को खिलाओगे, उसकी सेवा करोगे, तब मन ही मन सोचना कि भगवान् को खिला रहा हूँ, उनकी सेवा कर रहा हूँ। अच्छी तरह मन से, हृदय से ऐसा करो तो सही, सब ठीक हो जायगा।"

जिन्होंने गुरु का आश्रय लिया है, उन्हें वे पार जाने का रास्ता दिखा देते हैं और रास्ते की सारी बाधाएँ दूर कर देते हैं। गुरुवाक्य में विश्वास रख जैसा उन्होंने कहा है, वैसा करते जाओ। देखोगे मन का सारा मैल धुल जायगा और धीरे धीरे ज्ञान का प्रकाश आने लगेगा। गुरु के प्रति ठीक ठीक विश्वास होने से ही सब काम हो जायगा। गुरु को मनुष्य के रूप में मत देखना। शिष्य के लिए गुरु साक्षात् भगवान् हैं। गुरु-स्तोत्र में कहा है––

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

भगवत्-बुद्धि से गुरु की पूजा, गुरु का ध्यान और चिन्तन करते करते देह-मन जब शुद्ध हो जाते हैं, तब गुरु शिष्य को इष्टदर्शन कराकर अलग हो जाते हैं। शुद्ध आधार, शुद्ध मन हुए बिना प्रभु के दर्शन नहीं होते।

ठाकुर कहते थे, "सद्गुरु यदि हो, तो जीव का अहंकार तीन पुकार में चला जाता है।" गुरु के कच्चा होने पर गुरु को भी यंत्रणा होती है और शिष्य को भी।

कच्चे गुरु के हाथ में पड़ने से शिष्य का अहंकार नहीं जाता, संसार-बन्धन नहीं कटता। जिसने स्वयं ईश्वरलाभ नहीं किया है, प्रभु का आदेश नहीं पाया है, उनकी शक्ति से शक्तिमान नहीं बना है, उसकी क्या सामर्थ्य कि दूसरे का संसार-बन्धन काट सके? यदि अन्धा अन्धे को पथ दिखाए, तो हित की जगह अहित ही होता है। स्वयं मुक्त होने पर ही दूसरे को मुक्त किया जा सकता है—मुक्ति के बारे में उपदेश दिया जा सकता है।

यदि किसी को ठीक ठीक अनुराग हुआ और साधन-भजन करने की इच्छा हुई, तो निश्चय ही भगवान् सद्गुरु जुटा देंगे। गुरु प्राप्त करने के लिए साधक को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। और जिसने सद्गुरु पा लिया है, उसे फिर चिन्ता की क्या बात? उसे रास्ता तो मिल ही गया है। अब उसका काम है कि वह उस रास्ते पर चल पड़े।

"संसार कैसा है?—जैसे आमड़े का फल। गूदे का का नाम नहीं, है केवल छिलका और गुठली—खाने से अम्लशूल होता है।" तुम लोग अभी बच्चे हो। तुम लोगों का मन अभी भी तुम्हारे अपने पास है, अभी से यदि चेष्टा करो, तो सहज ही उन्हें पा ले सकोगे। बचपन में मन शीघ्र ही स्थिर हो जाता है। थोड़ी ज्यादा उम्र होने पर कुछ करना कठिन होगा। वैष्णवों में एक सुन्दर कहावत है—

गुरु, कृष्ण, वैष्णव तीन की दया हुई।
एक की दया बिना जीव की दुर्गति हुई॥

—गुरु ने तो यथेष्ट कृपा की ही है, भगवान् की कृपा से

सद्-इच्छा भी हुई है, फिर साधु-संग भी मिला है, अब एक की दया यानी मन की दया होने से ही हो जायगा। मन को वश में ला सकने पर ही इन लोगों की दया का अनुभव कर सकोगे और उसकी धारणा कर सकोगे। जैसे भी वने, मन को वश में लाना ही होगा। मन यदि वश में न आया, तो सब व्यर्थ हो जायगा। मन का स्वभाव ही ऐसा है कि वह जीव को भगवद्-भाव से खींचकर विषय में लगा देगा।

इसीलिए तुम लोगों से कहता हूँ--सावधान! मन ने अभी भी दौड़ना नहीं सीखा है। दौड़ना सीखने के पहले ही लगाम खींचकर रखो। जैसे महावत एक बड़े हाथी को training (शिक्षा) देकर स्वयं की इच्छानुसार चलाता है, उसी प्रकार मन को भी ऐसा train (तैयार) करना होगा, जिससे वह तुम्हारी आज्ञानुसार चले, जिससे तुम्हें अपने वश में न ला सके। मन को train (तैयार) करने का एकमात्र उपाय है--उससे भोगवासना का त्याग कराना। मन से भोगवासना निकल जाने पर वह तुम्हारा दास हो जायगा। तभी तो गीतादि शास्त्रों ने त्याग की इतनी महिमा गायी है।

त्याग, त्याग। त्याग के छोड़ अन्य कोई रास्ता नहीं है। त्याग की महिमा वे ही समझ सकेंगे, जिनका मन अभी संसार में बिखर नहीं पाया है। ठाकुर कहते थे-- "तोता का कण्ठ फूटने पर फिर वह पढ़ नहीं सकता।" कण्ठ फूटने के पहले जो भी बोली सिखाओगे, वह सीख

लेगा, कण्ठ फूट जाने पर सिर्फ टें टें करेगा। बचपन से भगवत्-कथा सुनने से मन पर अच्छी छाप पड़ती है। ऐसा मन थोड़ी चेष्टा करने से ही सहजता से सब समझ ले सकता है और धारणा कर सकता है।

छोटे बच्चों में कैसा सरल विश्वास होता है! वे जो भी सुनते हैं, विश्वास कर लेते हैं और उसे जीवन में उतारने की चेष्टा करते हैं। उनका एकाग्र मन जिधर जाता है, वहीं successful (सफल) होता है। आयु बढ़ने के साथ साथ मन सन्दिग्ध होता जाता है और वह सभी चीजों में सन्देह करना सीखता है। अन्त में मन की ऐसी भी अवस्था होती है कि किसी भी चीज में विश्वास करना उसके लिए कष्टप्रद हो जाता है। जो कुछ करना है, इसी उम्र में कर लो। हमने ठाकुर को देखा है, वे छोटा लड़का देखने पर उसे त्याग की बात सिखलाते थे और भगवान् को पाना ही जीवन का एकमेव उद्देश्य है यह भाव उसके मन में पक्का कर देने की चेष्टा करते थे। वे जानते थे कि ऐसे कच्ची उम्र के लड़के ही उनका भाव ठीक ठीक ग्रहण कर सकेंगे। तुम लोगों की उम्र अभी भी कम है, मन भी बहुत सरल है—इस समय सब वासना छोड़कर उनके पादपद्मों में खुद को निछावर कर दो।

राम और काम एक साथ नहीं रह सकते। एक को छोड़े बिना दूसरे को पकड़ा नहीं जा सकता। बड़ी वस्तु का स्वाद पाये बिना छोटी वस्तु का त्याग नहीं किया जा सकता। इस समय उनके चिन्तन में अपने मन को सोलहों

आने लगा दो, उन्हें अपना बना लो। वे हमारे सर्वस्व हैं यह भाव यदि पक्का होकर मन में बैठ जाय, तो फिर कोई गड़वड़ी नहीं होगी, फिर कोई भी तुम्हारा अनिष्ट नहीं कर सकेगा। उनका स्वाद एक वार मिल जाय, तो क्या दुनिया के भोग अच्छे लग सकते हैं ? तब तो सारे भोग-सुख तुच्छ हो जाते हैं; फीके लगते हैं। मिश्री का शरवत पी लेने के वाद क्या कोई फिर गुड़ का शरबत पीना चाहेगा ? यह जीवन उनको समर्पित कर दो, उनकी जो इच्छा हो वे करें। शरणागत ! शरणागत ! शरणागत !

# साधकों के लिए निर्देश

*स्वामी वीरेश्वरानन्द*

(रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने अपने नागपुर-प्रवास में श्रीरामकृष्ण आश्रम में भक्तों के समक्ष १ सितम्बर, १९७६ को जो अंगरेजी में उपदेश प्रदान किया था, प्रस्तुत लेख उसी का सार-संक्षेप है।)

दीक्षा लेते ही लोग शिकायत करने लगते हैं कि 'मैं इतना जप करता हूँ, पर मन शान्त नहीं होता। इष्ट के रूप का ध्यान करता हूँ, पर रूप मन में नहीं टिकता। जब मन शान्त ही नहीं होता, तो जप करने से क्या लाभ? जब रूप सामने नहीं आता, तो ध्यान करने से क्या लाभ? जब तक मन शान्त नहीं होगा, मैं जप नहीं करूँगा। जब तक रूप नहीं दिखेगा, मैं ध्यान नहीं करूँगा।' और वे ऐसा कह हताशा के शिकार हो जप-ध्यान का अभ्यास छोड़ बैठते हैं। पर यह तो बैल को गाड़ी के पीछे फाँदना हुआ। बिना जप के मन शान्त कैसे होगा? विना ध्यान के रूप कैसे दिखेगा? यदि जप-ध्यान का अभ्यास नियमित रूप से न किया जाय, तो लक्ष्य पर शंका होना स्वाभाविक ही है। महर्षि पतंजलि अपने योगसूत्रों में इस अभ्यास पर बल देते हैं और कहते हैं कि 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'—'अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन की चंचलता शान्त होती है।' गीता में भी जब अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा कि मन दुर्जय है, उसे पकड़ना हवा को पकड़ने के समान कठिन है, तो

श्रीकृष्ण ने उसकी बात काटी नहीं, बल्कि उन्होंने अर्जुन का समर्थन ही किया, कहा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। ६/३५।।

—'हे महाबाहो ! निस्सन्देह यह मन चंचल और कठिनता से निग्रह में आनेवाला है, पर हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसे वश में लाया जा सकता है।'

'अभ्यास' क्या है ? मन अपने ध्यान की वस्तु को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है, उसे बलपूर्वक पकड़कर उस ध्यान की वस्तु पर लाकर केन्द्रित करना होगा। मन फिर से भाग जायगा। उसे पुनः पकड़कर लाना होगा। इस प्रकार मन को बारम्बार पकड़कर ध्येय वस्तु पर केन्द्रित करने का प्रयास 'अभ्यास' कहलाता है। मन में बाहर जाने की प्रवृत्ति बनी रहती है और वह चला भी जाता है, पर हमें अभ्यासपूर्वक उसे अपने ध्यान की वस्तु में केन्द्रित करना चाहिए। मन को वश में करने के लिए ऐसा सतत अभ्यास नितान्त आवश्यक है।

'वैराग्य' क्या है ? संसार के इन्द्रिय-सुखों के प्रति विरक्ति का भाव वैराग्य कहलाता है। हमारे मन में वासना के सूक्ष्म संस्कार बने हुए हैं। इसलिए वह बारम्बार विषय-भोगों की ओर भागता है। विषयों के प्रति मन का आकर्षण ही उसके विक्षेप का कारण है। इस आकर्षण का दूर होना 'वैराग्य' कहलाता है। अन्तःकरण की उपमा एक झील से दी जाती है। जैसे हम झील में कंकड़ फेंकें,

तो उसके शान्त जल में लहरियाँ उत्पन्न होने लगती हैं, वैसे ही हमारा मन जब विषयों की ओर भागता है, तो हमारे अन्तःकरण की झील में वृत्ति की लहरें उठने लगती हैं और हमारा चित्त विक्षुब्ध हो जाता है। मन का विषयों की ओर जाना झील के शान्त जल में कंकड़ मारने के समान है। मन की ये बहिर्मुखी वृत्तियाँ उसे ध्येय वस्तु पर केन्द्रित ही नहीं होने देतीं, इसीलिए इष्ट के रूप के दर्शन नहीं हो पाते। जब विषयों पर आसक्ति कम होती है, तो स्वाभाविक ही मन पहले के समान विषयों की ओर नहीं दौड़ता। फलस्वरूप, हमारा ध्यान का अभ्यास सधने लगता है। तो, जिस उपाय से यह आसक्ति कम होती है, उसे 'वैराग्य' कहा जाता है।

पर यह 'वैराग्य' भी 'विवेक' के साथ मिलकर ही कार्य करता है। बिना विवेक के वैराग्य पुष्ट नहीं होता। 'विवेक' का अर्थ है नित्य और अनित्य का विचार करना, सतत यह सोचना कि एकमात्र ईश्वर ही नित्य हैं और शेष सब कुछ अनित्य। भोगों की असारता का, अनित्यता का सतत चिन्तन उनके प्रति हमारी आसक्ति को कम करता है और इस प्रकार वैराग्य को पुष्ट करता है। गीता में (१३/८) कहा है—'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्' —जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग में बारम्बार दुःख एवं दोषों का विचार करना चाहिए। यह विवेक है। ऐसे विवेक के द्वारा जो भी वस्तुएँ जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग से ग्रस्त होती हैं, उनके प्रति आसक्ति का त्याग करना

चाहिए। यह वैराग्य है।

इस प्रकार अपने वैराग्य को विवेक से संवलित कर हमें निष्ठा और नियम पूर्वक अभ्यास में लगे रहना चाहिए। कुछ महीने अथवा वर्ष-दोवर्ष साधना करने से नहीं बनेगा। यह साधना तो जीवनव्यापी है। हमें हरदम इसमें लगे रहना होगा। श्रीरामकृष्ण किसान का दृष्टान्त देते हैं। जो खानदानी किसान होते हैं, वे दो-तीन साल यदि वर्षा न हो, तो भी किसानी नहीं छोड़ते, पर जो शौकिया किसान होते हैं, वे एक-दो वर्ष की अनावृष्टि में ही हिम्मत हार जाते हैं और किसानी छोड़ देते हैं। उनका शौक चरमरा जाता है। हम भी शौकिया साधक न हों वरन् खानदानी साधक बनें। कुछ वर्षों की साधना से यदि कोई ठोस फल न दिखा, तो हम हिम्मत न हारें, साधना को बेकार समझकर न छोड़ दें, बल्कि उत्साहपूर्वक उसमें लगे रहें। एक दिन हमारी साधना फल देगी ही। बँगला में एक कहावत है कि दिन वह खराब नहीं, जो कष्टों और असुविधाओं से भरा हो, दिन तो वह खराब है, जब भगवान् का भजन नहीं हो पाता।

साधना का पूरा पूरा फल हमें आज इसलिए नहीं मिल पाता कि हमारा मन बँटा हुआ रहता है। हमारी इन्द्रियाँ सतत विषयों की ओर भाग रही हैं और हम उन पर रोक लगाये बगैर साधना करते रहते हैं। इसीलिए हमें उसका वांछित फल नहीं मिल पाता। यह वैसे ही है, जैसे छेदोंवाले घड़े में पानी भरना। हम प्रयत्न-

पूर्वक जल लाकर घड़े में भरते हैं, पर सारा जल छिद्रों के द्वारा बाहर निकल जाता है। हमें जल भरने के परिश्रम का अनुभव तो होता है, पर उस परिश्रम का हमें कोई फल नहीं मिलता, घड़ा खाली का खाली ही रहता है। जब तक हम घड़े के छिद्रों को बन्द नहीं करेंगे, तब तक हमारा उसे जल से भरने का प्रयत्न अर्थहीन ही रहेगा। इसी प्रकार, हम साधना तो करते हैं, पर हमारा सारा प्रयास विषयों के आकर्षणरूपी छिद्रों से बह जाता है। यदि हम साधना को फलवती बनाना चाहते हैं, तो इन छिद्रों को पहले बन्द करना होगा, जिनमें से निकलकर मन विषयाभिमुख हुआ करता है। तभी हमारा ध्यान गहरा होगा और हमारे चित्त में उठनेवाली वृत्तियाँ शान्त होंगी। वृत्तियों के शान्त होने पर ही हमें इष्टदेवता के स्पष्ट दर्शन सम्भव हो सकेंगे।

पर मन का एकदम से शान्त हो जाना सम्भव नहीं। हमें उसके लिए लगातार साधना करनी पड़ती है। यह सम्भव नहीं कि मन एकदम से विषयों से हट जाय और ध्यान की वस्तु में केन्द्रित हो जाय। ऐसी स्थिति अध्यवसायपूर्वक साधना में लगे रहने से ही क्रमशः साधित होती है। मन के लिए हमें एक घेरा बना देना चाहिए और उससे कहना चाहिए—'रे मन ! इस घेरे के अन्दर तुझे जितना घूमना हो, घूम ले, पर इसके बाहर मत जा।' साधना की प्रारम्भिक स्थिति में ऐसा घेरा मन के लिए कवच का काम करता है और उसे निरर्थक

वाहर भटकने से रोकता है। इस उपाय के द्वारा मन पर इन्द्रियों के आधिपत्य को धीरे धीरे कम किया जा सकता है। इन्द्रियाँ मन को फुसलाकर ले जाती हैं और विषयों में उसे फँसाकर लक्ष्य से दूर भटका देती हैं। विषयों के ऐसे आकर्षण को धीरे धीरे ही दूर किया जा सकता है। एतदर्थ मन के लिए हम जो घेरा खींचते हैं, उसमें इन्द्रियों के लिए सभी विषय रहते हैं––आँखों के लिए रूप, कानों के लिए शब्द, नाक के लिए गन्ध, रसना के लिए रस तथा त्वचा के लिए स्पर्श,—पर ये सारे विषय संसार से सम्वन्धित न हो इष्टदेवता से सम्वन्धित होते हैं। मन उस घेरे में नेत्रों के सहारे इष्टदेवता के रूप के दर्शन करता है, कानों के सहारे भगवच्चर्चा और प्रभु की वाणी सुनता है, नाक से उनकी दिव्य गन्ध लेता है, रसना से उनके प्रसाद का आस्वादन करता है और त्वचा से उनका पावन स्पर्श प्राप्त कर धन्यता का अनुभव करता है। विषयों में फँसकर शक्तिहीन हुआ मन इस उपाय से धीरे धीरे शक्ति-संग्रह करता है।

हम शरीर की तो वड़ी सुधि लेते हैं, पर मन को नहीं। हम तरह तरह के पौष्टिक पदार्थों से देह को तो वलवान वनाने की चेष्टा करते हैं, पर मन को बलवान बनाने की दिशा में हम कुछ भी नहीं करते और एक प्रकार से उसकी उपेक्षा ही करते हैं। इसी से हमारा मन दुर्बल रहता है, हमारी इच्छाशक्ति कमजोर रहती है। साधना का अभ्यास ही मन को वली वनाता है।

जैसे अन्न शरीर का पोषण करता है, वैसे ही जप-ध्यान मन का। यदि हमारा शरीर इस जन्म में रुग्ण और दुर्बल है, तो यह एक बार सम्भव है कि अगले जन्म में हमें स्वस्थ और सबल देह मिल जाय, पर यदि हमारा मन आज रोगी और कमजोर है, तो कदापि यह सम्भव नहीं कि अगले जन्म में हमें नीरोग और सशक्त मन प्राप्त हो। इस जन्म में हमारा मन जिस स्थिति में रहेगा, उससे अच्छी स्थिति का मन बिना साधना के हमें अगले जन्म में किसी भी प्रकार नहीं प्राप्त हो सकता। अतः हमें मन के पोषण पर ध्यान देना चाहिए और शरीर के ही समान उसकी भी देखभाल करनी चाहिए।

जब हम यह कहते हैं कि मन को पोषण देने के लिए जप-ध्यान का अभ्यास करना चाहिए, तो कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि अभी से साधना क्यों करें। वे कहते हैं कि अभी तो हमारी कोई उम्र ही नहीं हुई, जब कुछ बड़े हो जाएँगे, बूढ़े हो जाएँगे, तब साधना करेंगे। अभी तो संसार के बहुत से झमेले हैं। ये झमेले पहले मिट जायँ, फिर हम साधना की ओर ध्यान दे सकेंगे। जो ऐसा तर्क देते हैं, वे भूल करते हैं, क्योंकि जो संसार के झमेलों के मिटने तक रुके रहना चाहता है, वह नहीं जानता कि ये झमेले कभी मिटनेवाले नहीं हैं। संस्कृत में एक श्लोक है, जो कहता है—

य इच्छति हरिं स्मर्तुं व्यापारस्तगतैरपि।
समुद्रे शान्तकल्लोले स्नातुमिच्छति दुर्मतिः॥

—'जो संसार के झमेलों के मिटने पर भगवान् के भजन की इच्छा करता है, वह उस मूर्ख के समान है, जो सोचता है कि समुद्र की लहरें शान्त हो जायँ तो स्नान करूँ।' समुद्र की लहरें कभी शान्त होनेवाली नहीं। अत: जो स्नान करना चाहता है, उसे लहरों के ब च ही समुद्र में स्नान के लिए उतरना पड़ेगा। इसी प्रकार जो साधना करना चाहता है, उसे झमेले के बीच ही साधना करनी पड़ेगी। ऐसा नहीं हो सकता कि संसार के झमेले कभी शान्त हों, वे तो लगे ही रहेंगे। जब तक जीवन है, तब तक ये झमेले चलते रहेंगे। अत: जो सचमुच आध्यात्मिक जीवन की इच्छा रखता है, उसे इन झंझटों के बीच ही समय निकालना होगा और अभ्यास करना होगा।

कई लोगों की धारणा होती है कि यदि भगवान् की इच्छा और कृपा हो, तभी साधना हो सकती है। वे कहते हैं— "हममें साधना करने का क्या बल है? पुरुषार्थ करने से क्या होगा? भगवान् की जो मर्जी हो, वही तो होगा।" इन लोगों को यह जान लेना चाहिए कि भगवान् की कृपा यों ही नहीं हो जाती। जो अकर्मण्य है, उस पर ईश्वर की कृपा नहीं होती, बल्कि जो पुरुषार्थ करता है, उसी पर भगवान् कृपा करते हैं। इस सन्दर्भ में दो पक्षियों का एक उदाहरण है, जो प्रदर्शित करता है कि ईश्वर की कृपा कैसे आती है। पक्षियों के इस जोड़े ने समुद्र के तीर पर अण्डे

दिये। जब वे दाना चुगकर वापस लौटे, तो देखा कि लहरों ने अण्डों को बहाकर समुद्र के गर्भ में डाल दिया है। वे बड़े दुखित हुए और निश्चय किया कि समुद्र का पानी खाली कर वे अण्डे प्राप्त कर लेंगे। वे अपनी चोंच में पानी भरते और रेत में जाकर छोड़ आते। उनका यह क्रम दिन और रात चलता रहा। यह देख समुद्र के देवता वरुण को आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि चलकर देखें, क्या बात है। वे पक्षी-युग्म के पास आये और उनसे पूछा, "तुम लोग यह क्या कर रहे हो ?" पक्षियों ने उत्तर दिया, "समुद्र हमारे अण्डों को बहा ले गया है। अतः हम उसके जल को उलीच रहे हैं, जिससे हमें अण्डे वापस मिल जायँ।" वरुण पक्षियों की निष्ठा और अध्यवसाय से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने पक्षियों के अण्डे समुद्र से निकाल उन्हें वापस कर दिये।

यह दृष्टान्त प्रदर्शित करता है कि यदि हम सच्चाई पूर्वक प्रयत्न करें, तो भगवान् प्रसन्न होते हैं और हमारी सहायता करते हैं, हम उनकी कृपा के भाजन बनते हैं। श्री माँ सारदा देवी कहा करती थीं कि इस बार श्रीरामकृष्ण ने आकर भगवत्प्राप्ति का पथ सुगम कर दिया है। पहले के युगों में व्यक्ति को कठोर साधना करनी पड़ती थी, पर श्रीरामकृष्ण ने साधक का कार्य हल्का कर दिया है। पहले किवाड़ भीतर से बन्द रहा करता था और उसे खोलने के लिए साधक को कठोर श्रम करना पड़ता था। पर श्रीरामकृष्ण ने आकर दरवाजे की

भीतर की चिटखनी खोल दी है, दरवाजे केवल भिड़े हुए हैं। बस, थोड़ा सा धक्का भर देना है कि किवाड़ खुल जाएँगे। अबकी बार साधक को केवल धक्का भर देना है। इतना पुरुषार्थ तो उसे करना ही होगा।

अन्त में यही कहना है कि जप-ध्यान का अभ्यास नियमित रूप से करना चाहिए। फल एक-दो वर्ष में नहीं मिलने का, अध्यवसायपूर्वक इसमें सतत लगे रहने से धीरे धीरे मन शान्त होगा। भगवान् की कृपा भी तभी होगी, जब हम स्वयं प्रयत्न करेंगे। और तब हमारे जीवन में शान्ति का अवतरण होगा तथा हमें इष्ट के दर्शन होंगे।

# धन्य भरत जय राम गोसाईं

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

धर्म का निर्णय किसी एक व्यक्ति के चरित्र से नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो, कभी कभी उसमें त्रुटि आ ही जाती है। इसीलिए प्राचीन काल में जब महापुरुषगण अपने शिष्यों को आश्रम से विदा करते थे, तो कहते थे--'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नेतराणि' -- 'हमारे आचरणों में से जो पवित्र हैं, तुम उन्हीं का अनुकरण करो, अन्य का नहीं।' इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति से व्यवहार में त्रुटि हो सकती है। अतः धर्म के विषय में किसी व्यक्ति को प्रमाण मानने की परम्परा नहीं रही, इसके लिए तो शास्त्रों को ही प्रमाण माना गया -- 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (गीता, १६।२४) -- 'कार्य और अकार्य के बारे में शास्त्र ही प्रमाण होने चाहिए।' धर्म क्या है और अधर्म क्या है, यह शास्त्र ही प्रमाणित करेंगे। तथापि गुरु वसिष्ठ, जो स्वयं धर्म के महान् ज्ञाता हैं, श्री भरत से कहते हैं कि भरत, जो तुम समझोगे, कहोगे और करोगे, वह धर्म का सार होगा। यदि हम गुरु वसिष्ठ के इस वाक्य की गरिमा पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि श्री भरत व्यक्ति के रूप में दिखाई देने पर भी, उनका आचरण किसी व्यक्ति का आचरण नहीं है, और यही वह कारण है, जो उनके

और अयोध्या के अन्य धर्मज्ञों के विचारों में पार्थक्य प्रकट करता है।

वह दृश्य सामने आता है, जब महाराज दशरथ के समस्त और्ध्वदैहिक कर्म शेष हो जाते हैं; तब गुरु वसिष्ठ के अनुरोध पर अयोध्या के सभी प्रमुख नागरिकों की सभा बुलायी जाती है और गुरु वसिष्ठ श्री भरत के सम्मुख एक प्रस्ताव रखते हैं। गुरु वसिष्ठ आचार्य हैं, गुरु हैं, धर्म के व्याख्याता हैं, इसीलिए उन्हें यह प्रस्ताव रखने का भार सौंपा गया कि आज जब महाराज दशरथ ने प्राणों का परित्याग कर दिया है और श्री राम वन में हैं, तब अयोध्या आज राजा-विहीन हो गयी है, अतः उसकी सुरक्षा के लिए श्री भरत राज्य-पद ग्रहण करें। गुरु वसिष्ठ ने इस कार्य को बड़े सुन्दर ढंग से सम्पन्न करने की चेष्टा की। उन्होंने पहले धर्म का निरूपण करते हुए आश्रम और वर्ण-धर्म की विवेचना की और कहा––"भरत, तुम्हारे पिता अत्यन्त महान् थे। धर्म की रक्षा के लिए उन्होंने हर कठिनाई का सामना किया। जीवन में उन्होंने कितना त्याग किया! अब तुम्हारा कर्तव्य है कि–

रायँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा।
पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥
तजे रामु जेहिं बचनहिं लागी।
तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥
नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना।
करहु तात पितु बचन प्रवाना॥

करहु सीस धरि भूप रजाई ।
हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई ॥
परसुराम पितु अग्या राखी ।
मारी मातु लोक सब साखी ॥
तनय जजातिहि जौबनु दयऊ ।
पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ ॥
अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन ।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन ॥२/१७४

—— राजा ने तुम्हें जब राजपद दिया है, तो उनके वचनों को सत्य करो। राजा ने वचन के लिए ही श्री राम को त्याग दिया और स्वयं विरहाग्नि में शरीर की आहुति दे दी। राजा को वचन प्रिय थे, प्राण नहीं। इसलिए राजा की आज्ञा सिर-माथे रखकर उसका पालन करो, इसी में तुम्हारी सब प्रकार से भलाई है। देखो, परशुराम ने पिता की आज्ञा पर माता का वध कर दिया, ययाति के पुत्र ने पिता को अपना यौवन दे दिया। पिता की आज्ञा का पालन करने से उन्हें कोई पाप और अपयश नहीं हुआ। जो अनुचित-उचित का विचार त्याग पिता के वचनों का पालन करते हैं, वे सुख और सुयश के भागी हो इन्द्रपुरी को प्राप्त करते हैं।"

गुरु वसिष्ठ के वचनों का समर्थन करते हुए मंत्रियों ने कहा (२/१७५) ——

कीजिअ गुर आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि ।

—— "भरतजी, आप गुरुजी की आज्ञा का पालन अवश्य

कीजिए।" और उन्होंने प्रस्ताव में एक कड़ी और जोड़ दी——
रघुपति आएँ उचित जस तस तव करब बहोरि ।२/१७५
—— "श्री राघवेन्द्र के आने पर फिर आपको जैसा उचित दिखे वैसा कर सकते हैं।" तात्पर्य यह था कि यदि आप सदा के लिए राज्य स्वीकार नहीं करना चाहें, तो केवल राघवेन्द्र के आते तक के लिए ही स्वीकार कर लें।

इस प्रस्ताव का समर्थन और अनुमोदन करती हुई कौसल्या अम्बा बोलीं——

कौसल्या धरि धीरजु कहई।
पूत पथ्य गुर आयसु अहई ॥ २/१७६/१

——"भरत, गुरु की आज्ञा चाहे प्रिय लगे या अप्रिय, स्वीकार कर लो। जैसे रोगी वैद्य द्वारा वताये गये पथ्य को, भले ही वह रुचिकर न हो, रोग-नाश के लिए स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार गुरुदेव की आज्ञा पथ्य मानकर ग्रहण कर लो।"

इस प्रस्ताव की गुरुता को, जिसे गुरु वसिष्ठ जैसे शास्त्रज्ञ महापुरुष ने रखा तथा जिसका अनुमोदन सभी मंत्रियों और सभासदों ने किया, एवं जिसकी पुष्टि कौसल्या अम्बा ने की, सहज ही समझा जा सकता है। फिर राज्य भी अयोध्या जैसा, जिसका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं——

अवध राजु सुर राजु सिहाई।
दसरथ धनु सुनि धनहु लजाई॥ २/३२३/६

—— 'यह ऐसा राज्य है, जिसकी इन्द्र भी सराहना

करते हैं और कुबेर जिसका ऐश्वर्य देख लजा जाते हैं।'
गुरु वसिष्ठ ने कहा, "भरत, यदि ऐसे राज्य की सुरक्षा और व्यवस्था की परम्परा को तुमने स्वीकार नहीं किया, तो तुम्हारा कार्य धर्म की दृष्टि से सुसंगत नहीं माना जायगा। लोग यही कहेंगे कि भावना के प्रवाह में पड़-कर तुमने कर्तव्य की अवहेलना कर दी।"

पर भरतजी का चरित्र इतना दृढ़ है कि वे गुरु वसिष्ठ और सारे सभासदों, यहाँ तक कि कौसल्या अम्बा के अनुरोध से भी मुह्यमान नहीं होते। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे कठोरहृदय हैं। उनमें कोमलता भी कूट-कूटकर भरी है। दृढ़ता और कोमलता का एक साथ होना अत्यन्त विरल है। सत्य और शील प्रायः एक साथ दृष्टिगोचर नहीं होते। सद्‌गुणों के साथ यही एक बड़ी कठिनाई है। यदि एक सद्‌गुण मनुष्य के जीवन में आता है, तो दूसरा प्रायः चला जाता है। पर श्री भरत में सत्य और शील का विलक्षण समन्वय हुआ है। वे नम्र किन्तु दृढ़ स्वर में अपनी बात सभी के समक्ष रख देते हैं। वे ऐसा भाषण देते हैं कि सभी भगवान् राम के प्रेम में गद्‌गद हो उठते हैं। गुरु वसिष्ठ ने पहले से सारी सभा को सिखा पढ़ा रखा था कि किसे कब बोलना है, कैसे अनुमोदन करना है, कब समर्थन करना है। और सारी सभा ने गुरु वसिष्ठ द्वारा रखे गये इस प्रस्ताव का कि भरत को राजपद सम्भालना है, मुक्त कण्ठ से सम-र्थन भी किया था। लेकिन जब श्री भरत बोलने को

खड़े हुए और अपना भाषण दिया, तो गुरु वसिष्ठ की सारी योजना धरी रह गयी। गोस्वामीजी लिखते हैं --

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे।
राम सनेह सुधाँ जनु पागे॥
लोग बियोग बिषम बिष दागे।
मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥
मातु सचिव गुर पुर नर नारी।
सकल सनेहँ बिकल भए भारी॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही॥ २/१८३/१४

अयोध्या का प्रत्येक व्यक्ति भरतजी के प्रेम की सराहना करने लगा। भरतजी ने ज्योंही यह प्रस्ताव रखा कि हम लोग चित्रकूट चलकर प्रभु को लौटा ले आएँगे, तो सभी व्यक्ति जो पहले गुरु वसिष्ठ का समर्थन कर रहे थे, बोल उठे --

अवसि चलिय बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।
सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥ २/१८४

-- "हे भरतजी, वन को अवश्य चलिए, जहाँ श्री राम जी हैं। आपने बड़ी अच्छी सलाह दी, जो शोकसागर में डूबते हुए लोगों को उबार दिया।"

यह स्थिति देख गुरु वसिष्ठ समझ गये कि वातावरण उनके प्रतिकूल हो गया है। पर वे समाज और समय के ज्ञाता हैं। उन्होंने समझ लिया, 'इस समय श्री भरत के विचार के विरुद्ध अपनी बात कहना उपयुक्त

नहीं होगा। यह सही है कि भरत अभी जो कह रहे हैं, वह धर्म के प्रतिकूल है; व्यक्ति में जब भावना का प्रवाह उमड़ता है, तो उसे विवेक और धर्म का भान नहीं रह जाता। फिर भी अभी चुप रह जाना ही श्रेयस्कर होगा। चित्रकूट में जब भरत श्रीराम के सामने अपनी भावना रखेंगे, तव श्रीराम अवश्य मर्यादा का पालन करेंगे।' इस प्रकार अपने मन को समझा-बुझाकर गुरु वसिष्ठ सबके साथ चित्रकूट को प्रस्थान करते हैं। पर उनके मन में एक शंका बनी हुई है कि भरत वहाँ श्रीराम को लौटाने के लिए कौनसा तर्क प्रस्तुत करेंगे। यदि वह तर्क ज्ञात हो जाय, तो मैं उसके खण्डन की तैयारी कर लूँ। पर क्या यह सम्भव हो पाया? गुरु वसिष्ठ को बार बार यह लगने लगा कि वे ऐसे पात्र के सामने पड़ गये हैं, जिसकी थाह पाना उनके लिए असम्भव है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

भरत महा महिमा जलरासी।
मुनि मति ठाढ़ि तीर अवला सी॥
गा चह पार जतनु हियँ हेरा।
पावति नाव न बोहितु बेरा॥२/२५६/२-३

——'जिस प्रकार समुद्र के किनारे खड़ी एक अवला स्त्री समुद्र को पार करने की वृथा चेष्टा करे और निराश हो जाय, उसी प्रकार गुरु वसिष्ठ भरतजी को पार पाना चाहते हैं, पर उन्हें बार बार निराशा ही हाथ लगती है।'

चित्रकूट के एकान्त में गुरु वसिष्ठ श्री भरत से पूछ ही बैठे, "भरत, तुम राम को लौटाकर अयोध्या ले

चलना चाहते हो, पर कैसे ले जाओगे ? क्योंकि--

सत्यसंध पालक श्रुति सेतू ।
राम जनमु जग मंगल हेतू ।।
गुर पितु मातु बचन अनुसारी ।
खल दलु दलन देव हितकारी ।।२/२५३/३-४

-- "राघवेन्द्र तो बड़े सत्यप्रतिज्ञ हैं, वेद की मर्यादा के रक्षक हैं । उनका अवतार ही जगत् के कल्याण के लिए हुआ है । वे तो गुरु, पिता, माता के वचनों के पालक हैं । तुम उन्हें किस तरह लौटा ले जाओगे ?"

भरतजी बोले, "मैं अभागा हूँ, यह तो मैं जानता था । पर इतना बड़ा अभागा होऊँगा, यह मैंने कभी नहीं सोचा था ।"

--"कैसे ?"

--"गुरुदेव, आज तक जब भी हमारी वंश-परम्परा में कोई संकट आया, तो आप जैसे गुरुओं से मार्गदर्शन प्राप्त हुआ और संकट दूर हो गये । गुरुकृपा से सारी बाधाएँ दूर होती गयीं । आज मैं ही पहला अभागा हूँ, जिससे गुरु स्वयं ही उपाय पूछ रहे हैं कि श्री राम को कैसे लौटा ले जाओगे । यह मेरा दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है ? मैं तो यह सोचकर निश्चिन्त था कि जब आप हैं, तो उपाय भी आप ही कर देंगे" --

बूझिअ मोहि उपाउ अब सो सब मोर अभागु ।
सुनि सनेहमय बचन गुर उर उमगा अनुरागु ।। २/२५५

गुरु वसिष्ठ बड़े असमंजस में पड़े । साथ ही उनके

ऊपर श्री भरत का प्रेम छा गया -- भरत का मेरे प्रति इतना विश्वास, इतना प्रेम ! गुरुदेव गद्‌गद हो उठे। पर उनकी बुद्धि की सजगता भावना के प्रवाह में पड़कर नष्ट नहीं होती। वे भरतजी के साथ भगवान् राम के पास जाते हैं और उनके समक्ष जो भाषण देते हैं, वह व्यक्ति के मन और बुद्धि के द्वन्द्व का अच्छा दृष्टान्त है। उनके भाषण को सुनकर यह पता ही नहीं चलता कि वे क्या कहना चाहते हैं। उनकी बातें परस्पर बड़ी असंगत लगती हैं। कोई बात वे मन की कह जाते हैं, तो कोई बुद्धि की। एक ओर वे श्री भरत का प्रतिनिधित्व करना चाहते हैं और दूसरी ओर उन्हें शास्त्र की मर्यादा का भी भान है। परिणामस्वरूप वे कह उठते हैं--

मोरें जान भरत रुचि राखी।
जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी ॥२/२५७/८

-- "मेरी समझ में तो भरत की बात रखकर जो कुछ किया जायगा सब शुभ ही होगा।"

भगवान् राम ने मुसकराकर कहा-- "तो गुरुदेव, आपकी आज्ञा है कि भरत की बात मान ली जाय ?"

--"नहीं, नहीं, यह बात नहीं--

भरत विनय सादर सुनिअ करिअ विचारु बहोरि।

--पहले भरत की बात आदर के साथ सुन लो, फिर उस पर अच्छी तरह से विचार कर लो, पर--

करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि ॥२/२५५

--करो वही, जो साधुमत, राजनीति और धर्मनीति के

अनुकूल हो।" गुरुदेव का विरोधाभास यह है कि एक ओर तो वे भरतजी की बात आदरपूर्वक सुनने की सलाह देते हैं और दूसरी ओर कहते हैं——'करना वही, जो साधुसम्मत और धर्मप्रतिपादित हो।' यदि भगवान् राम कहें कि गुरुदेव, भरत तो जो कहेंगे ठीक ही कहेंगे, तो गुरु वसिष्ठ सावधान करते हुए कहते हैं, "नहीं, नहीं——

आरत कहहिं बिचारि न काऊ।
सूझ जुआरिहि आपन दाऊ॥२/२५७/१

—— राघवेन्द्र, आर्त व्यक्ति कभी विचार करके नहीं बोलता है। यह तो वैसा ही है, जैसे जुआड़ी को अपना ही दाँव सूझता है।" संकेत यह था कि यह तो धर्म और प्रेम का जुआ है। एक ओर कर्तव्य और धर्म है, तो दूसरी ओर भावना और प्रेम है। मैं तो तुम्हारी ओर से ही दाँव लगाने आया था, पर इस बीच भरत से ऐसा बँध गया कि उसकी ओर से बोलना पड़ रहा है। लेकिन तुम सावधान रहना। कहीं हार न जाना। नहीं तो धर्म की मर्यादा नहीं रह पाएगी।

और इसके पहले कि भगवान् राम कहें, "गुरुदेव, आप तो परम विवेकी हैं। आपके द्वारा जो बात कही जायगी, वह तो धर्म और युक्तिसंगत होगी ही", श्री वसिष्ठ कह उठते हैं, "राम, मेरे ऊपर विश्वास नहीं करना।"

——"क्यों ?"

तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी।
भरत भगति बस भइ मति मोरी॥२/२५७/८

—"मेरी बुद्धि स्वतंत्र नहीं है, वह भरत की भक्ति के वश में हो गयी है।"

भगवान् राम ने भरत की ओर देखा और कहा, "भरत, तुम बड़े सौभाग्यशाली हो—

जे गुर पद अंबुज अनुरागी।
ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥
राउर जा पर अस अनुरागू।
को कहि सकइ भरत कर भागू॥२/२५८/५-६

—शिष्य अगर गुरु के चरणों में प्रीति करे, तो वह धन्य है। पर यदि गुरु ही शिष्य से अनुराग करने लगे, तो फिर उसकी धन्यता का क्या कहना! आज तो शिष्य की परम्परा ही बदल गयी। भरत, तुम जो कहना चाहते हो, निस्संकोच कहो।"

भरतजी का अभिमान यहाँ थोड़ा काम आया। वे खड़े हो गये और बोले—

कहब मोर मुनि नाथ निबाहा।
एहि तें अधिक कहौं मैं काहा॥ २/२५९/४

— "जो कुछ कहने योग्य बात थी, वह तो गुरुदेव ने कह दी। अब इससे अधिक मैं क्या बोलूँ?"

गुरुदेव आश्चर्य में पड़े कि ऐसा तो मैंनें कुछ कहा नहीं, तब भरत कैसे कह रहे हैं कि मैंने सब कुछ कह दिया!

श्री भरत बोले, "गुरुदेव, जब आपने कहा कि मेरे और प्रभु राम के बीच जुआ हो रहा है, खेल हो रहा है, तभी मैं समझ गया कि इसका परिणाम क्या होगा,

क्योंकि मेरा और प्रभु का खेल आज पहली बार नहीं हो रहा है। बाल्यावस्था से हम लोग नित्य प्रति खेलते आ रहे हैं और उन खेलों का एक ही परिणाम हुआ है--

सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू।
कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू।।
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही।
हारेंहुँ खेल जितावहिं मोही।। २/२५९/७-८

--वह यह कि मेरे हारने पर भी प्रभु मुझे खेल में जिता देते रहे हैं। क्या आप सोचते हैं आज इससे कुछ विपरीत होगा ?"

गुरु वसिष्ठ यह सुन बड़े आश्चर्य में पड़ जाते हैं। उनकी सारी सावधानी, सारी चतुराई, भगवान् राम को दी गयी सारी चेतावनी व्यर्थ हो जाती है। भगवान् राम कह उठते हैं--"भरत, मैं तो केवल यही कह सकता हूँ कि हमारे पिता महान् थे--

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी।
तन परिहरेउ पेम पन लागी।।
तासु बचन मेटत मन सोचू।
तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू।। २/२६३/६-७

--उन्होंने सत्य के लिए मेरा त्याग कर दिया। मेरे प्रेम में अपने शरीर को त्याग दिया। उनके वचनों को मेटते मन में सोच होता है। पर फिर भी आज मैं उनकी अपेक्षा तुम्हारे वचनों को अधिक महत्त्व देता हूँ। तुम जो कहोगे मैं वही करूँगा।"

भगवान् का यह वचन सुन वसिष्ठ जी ठगे से रह गये। उनकी सारी आशा धरी रह गयी। उन्हें लगा—भरत के प्रेम ने राघवेन्द्र की सारी मर्यादा बहा दी है। अब तो भरत निश्चित रूप से श्रीराम को लौटने को कहेंगे और राघवेन्द्र लौट जाएँगे। सत्य की मर्यादा भंग हो जायगी। पर उधर अयोध्यावासी तो यह सुन झूम उठे कि अब भरतजी प्रभु को लौटा ले जायँगे। लेकिन देवताओं की बुरी दशा है—भरत ने आकर सब बिगाड़ दिया, अब तो भगवान् राम अयोध्या लौट जाएँगे, अब रावण मरने से रहा। तब हम लोगों का काम होगा कैसे?

गोस्वामीजी की रामायण और अन्य रामायणों में भगवान् राम के कथन में एक भिन्नता है। अन्य रामायणों में भगवान् राम कहते हैं—"भरत, चाहे कुछ भी हो जाय, मैं सत्य का परित्याग नहीं करूँगा।" भरत के यह कहने पर कि यदि आप वापस नहीं चलेंगे, तो मैं अनशन करके प्राणों का त्याग कर दूँगा, भगवान राम अपने वचनों पर अटल रहते हैं—"चाहे तुम जो करो, मैं पिता की आज्ञा का परित्याग नहीं कर सकता।" पर 'मानस' में भगवान् श्री भरत से कहते हैं—"भरत तुम मुझसे जो करने को कहोगे मैं वही करूँगा"—

अवसि जो कहहु चहउँ सोई कीन्हा। २/२६३/८

अर्थात्, यदि श्री भरत प्रभु से लौटने को कहें, तो वे उसके लिए भी तैयार हैं। लोग कह सकते हैं कि इसका तात्पर्य फिर यह हुआ कि प्रभु भरतजी के कहने पर धर्म

और सत्य को त्याग सकते हैं। नहीं, ऐसी बात नहीं। यह तो भगवान् राम ही हैं, जो धर्म के एकमात्र ज्ञाता हैं। और यही ज्ञान रामायण का मूल सूत्र है। जब यह सूत्र जीवन में आएगा, तभी धर्म की सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठा होगी। यह सूत्र क्या है? धर्म की रक्षा का तात्पर्य धार्मिकता का अहंकार नहीं है। यदि व्यक्ति यह चिन्ता करे कि मैं धार्मिक कहाऊँ, धर्म का रक्षक कहलाऊँ, तो यह धर्म के अहंकार का पोषण होगा। इसके पीछे सुख-प्राप्ति की आकांक्षा विद्यमान होगी। एक पापी पाप क्यों करता है? इसलिए कि वह समझता है——पाप के रास्ते से मुझे सुख मिलेगा। कोई दुख पाने के लिए पाप नहीं करता। इसी प्रकार पुण्यात्मा भी धर्म का कार्य इसलिए करता है कि उसे सुख मिले, स्वर्ग मिले। भले ही दोनों के मार्ग अलग अलग हों, पर अभीप्सित वस्तु एक ही है, और वह है सुख की प्राप्ति। पर यह सही धर्म नहीं। सही धर्म क्या है? 'रामचरितमानस' में एक वाक्य आता है——

महाराज अब कीजिअ सोई।
सबकर धरम सहित हित होई॥ २/२९०/८

——'जिससे सभी के धर्म की रक्षा हो, वही सही धर्म है।' जब ऐसा धर्म समाज में आएगा, तब व्यक्ति केवल अपनी चिन्ता नहीं करेगा। वह यह नहीं सोचेगा कि केवल मेरा धर्म बचे और बाकी सब भाड़ में जायँ, बल्कि वह यही चिन्ता करेगा कि सभी का धर्म बचे। भगवान् राम के श्री भरत से यह कहने में कि तुम्हारे कहने पर मैं पिता-

जी का वचन त्याग दूँगा, जो मूल भावना कार्यरत है, वह है सत्य की स्थापना। वे जब श्री भरत से कहते हैं कि तुम्हारे कहने पर मैं लौट चल सकता हूँ, तो उनका तात्पर्य यह है कि भरत, समस्या असत्य और सत्य के बीच चुनाव की नहीं है--समस्या तो सत्य और सत्य के बीच चुनने की है, यह देखने की है कि मेरा सत्य बचे या तुम्हारा। तो भरत, मैंने निर्णय कर लिया है कि तुम्हारा सत्य बचना चाहिए। मेरा सत्य रहे या जाय इसकी मुझे परवाह नहीं।

तो भगवान् राम सत्य और असत्य में चुनाव नहीं करते, वे अपने सत्य और भरत के सत्य में चुनाव करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के सामने भी 'यही समस्या आ खडी होती है, जब भीष्म प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि श्रीकृष्ण को शस्त्र न पकड़ा दूँ, तो मैं शान्तनु का पुत्र नहीं। भगवान् ने तो पहले ही प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं युद्ध में शस्त्र नहीं पकड़ूँगा। पर जब उन्होंने भीष्म की प्रतिज्ञा सुनी, तो उनके सामने प्रश्न आया कि सत्यवादी मैं रहूँ या भीष्म? और उन्होंने निर्णय लिया कि जब एक न एक को असत्यवादी बनना ही है, तो क्यों न मैं अपने को असत्यवादी सिद्ध कर लूँ और भीष्म जैसे महापुरुष के सत्य की रक्षा कर दूँ। और इस प्रकार भगवान् अपने सत्य की परवाह न करते हुए शस्त्र ग्रहण करते हैं, भीष्म के सत्य की रक्षा करते हैं। इससे भगवान् ने असत्य को नहीं जिताया, उन्होंने सत्य को ही जिताया, पर हाँ, दूसरे के सत्य को।

भीष्म और भरत के चरित्र में एक अन्तर यह है

कि भीष्म ने अपना सत्य बचाने के लिए एक क्षण के लिए भगवान् को असत्यवादी सिद्ध कर दिया। पर भरत-जी इतने महान् थे कि जब भगवान् राम को उनके सत्य की चिन्ता हुई, तो श्री भरत ने कह दिया—"प्रभु, आप-को असत्यवादी बनाकर मैं अपना सत्य बचाऊँ, यह नहीं हो सकता। जिस प्रकार से आप प्रसन्न हों वही कीजिए।"—

जेहि विधि प्रभु प्रसन्न मन होई।
करुना सागर कीजिअ सोई ॥ २/२६८/२

तो, इस प्रकार भगवान् राम को भरत के सत्य की चिन्ता है और श्री भरत को भगवान् राम के सत्य की। और परिणाम यह होता है कि दोनों के सत्य की रक्षा हुई। विजय किसी व्यक्ति की नहीं, सत्य की हुई। तभी तो 'मानस' में एक प्रसंग आता है, जब श्री भरत और भगवान् राम का संवाद हुआ, तो देवताओं ने एक नारा लगाया। नारा लगाते समय नियम तो यह है कि पहले वड़े की जय बोली जानी चाहिए, फिर छोटे की। पर देवता यों बोले—

धन्य भरत जय राम गोसाईं। २/३०८/१

—'धन्य हो, भरत! जय हो भगवान् राम की!' इसका तात्पर्य क्या है? यही कि जय तो भगवान् राम की हुई, पर भरत धन्य हैं, जिन्होंने भगवान् राम को हारने नहीं दिया। उन्हें जिता दिया। यदि वे प्रभु से लौट चलने को कहते, तो प्रभु लौट जाते। पर आज प्रभु का जय-जयकार न होता यह तो श्रीभरत ही थे, जिन्होंने दोनों के सत्य की रक्षा कर अपने जीवन में धर्मसार का रूप प्रस्तुत किया।

# आचार्य मध्व--जीवन और दर्शन

ब्रह्मचारी दुर्गेश चैतन्य

इतिहास की दृष्टि जहाँ थम जाती है, परम्पराएँ जहाँ ताकने का साहस नहीं करतीं, स्मृति की पहुँच से दूर, सुदूर सहस्राब्दियों पूर्व के उस अतीत में किसी महा-मानव ने ससीम से असीम होकर उद्घोषित किया था-- 'श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'---हे अमृत के पुत्रो! सुनो।

मानव मात्र के हृदय की चरम अभिलाषा को उस महान् मनीषी ने एक शब्द में व्यक्त कर दिया। 'अमरता' यही तो मानव-मन की चिरपोषित आकांक्षा है, किन्तु अमृत की यह सन्तान अमरता के सन्धान में भटककर बहिर्मुखी हो गयी है। अमृत के आदिस्रोत से दूर, अपने से बाहर दृश्य-प्रपंच में उसने अमृत-कलश को ढूँढने का व्यर्थ प्रयास किया और स्रोत से दूर हटता गया। अमर मानव मर्त्य हो गया, यह कैसा उपहास ! कैसी विडम्बना!

किन्तु यह परम्परा पुण्यभूमि भारत की नहीं रही। पथभ्रष्ट मानवता से किसी भारतीय ने कहा-- 'आवृत्त-चक्षुः'---आँखें बन्द कर लो ! ठहरो, कहाँ बाहर की ओर भागे जा रहे हो ! भीतर की ओर मुड़ो और देखो ! अमृत का स्रोत, उसका सागर तो तुम्हारे अन्तःकरण में ही है। उसमें गोता लगाओ और अमर हो जाओ !

ऐसे अमर हुए महामानवों को ही तो हम 'आचार्य' कहते हैं। समस्त विश्व में पुण्यभूमि भारत को ही यह सौभाग्य प्राप्त है कि अनादिकाल से अब तक यहाँ ऐसे

आचार्यों की अक्षुण्ण परम्परा चली आ रही है, जिन्होंने भगीरथ प्रयत्न के द्वारा हृदय-गुहा में स्थित अध्यात्म-मन्दाकिनी की इस पावन धाराको विभिन्न साधना-प्रणालियों के माध्यम से साधक के द्वार तक लाकर पहुँचा दिया है।

मध्व ऐसे ही एक आचार्य थे।

ईसा की वारहवीं शताब्दी के अन्त के लगभग भारत के दक्षिण-पश्चिम कूल में प्रसिद्ध तीर्थ उड़ुपी के निकट एक ब्राम्हण दम्पती रहा करता था। गृहस्वामी का नाम था मध्यगेह नारायण भट्ट। गृहिणी थीं श्रीमती वेदवती। भट्ट वंश बहुत ही प्राचीन और प्रसिद्ध रहा है। आचार्य शंकर के समकालीन, कर्मकाण्ड के उद्भट विद्वान्, सिद्ध पुरुष, आचार्य कुमारिल भट्ट भट्टवंशीय ब्राह्मण ही थे। नारायण भट्ट भी वेद-वेदान्त में पारंगत प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। वे अध्यापन का कार्य करते। आसपास के क्षेत्रों में सुयोग्य आचार्य के रूप में उनकी ख्याति व्याप्त थी। विद्वान् होने के साथ ही वे एक निष्ठावान् विष्णु भक्त भो थे। धर्मपत्नी वेदवती जैसी रूपवती थीं, वैसी ही भक्तिमती भी। घर में भगवान् नारायण की सेवा-पूजा होती। भट्ट दम्पती अपना अधिकांश समय भगवान् की उपासना-आराधना में ही बिताते। विशेष उत्सवों और पर्वों आदि में वे लोग निकटवर्ती तीर्थ उड़ुपी में जाकर शेषशायी अनन्तेश्वर विष्णु की विशेष पूजा-अर्चना करते।

नारायण भट्ट अत्यन्त साधारण परिस्थिति के गृहस्थ थे। सम्पत्ति के नाम पर एक पैतृक घर तथा एक बगीचा

था। इस वगीचे में होनेवाली फसल तथा शिष्यों से मिलनेवाली गुरुदक्षिणा ही भट्ट परिवार की जीविका का साधन थी।

कहा जाता है, कदम्वराज मयूरवर्मन के आमंत्रण पर इस अंचल में कुछ ब्राह्मण-परिवार आकर वस गये थे। इनमें से अधिकांश शांकर अद्वैत वेदान्त के अनुयायी थे। साधारणत: ये लोग शैव मतावलम्बी थे। उनमें कोई कोई परिवार वैष्णव भी था। मध्यगेह नारायण भट्ट वैष्णव थे।

भट्ट के दो पुत्र और एक कन्या थी। सन्तान से भरा परिवार। भट्ट-दम्पती बड़े सुखी थे। किन्तु उनका यह सुख अधिक दिनों तक न टिक सका। तरुण अवस्था के होते होते ही दोनों पुत्रों की मृत्यु हो गयी। शोक के आघात से भट्ट-दम्पती मानो टूट से गये। समय बीतता गया। वे लोग कुछ सँभले, किन्तु पुत्र-शोक उनसे भुलाया न जाता। नैष्ठिक ब्राह्मण होने के कारण उनके मन में यह चिन्ता भी लगती कि यदि पुत्रहीन रहकर मृत्यु हो गयी, तो पिण्डदान कौन करेगा ? इसी चिन्ता और भय से आतुर हो बीच बीच में वे उड़ुपी जाते और अनन्तेश्वर विष्णु के चरणों में प्रणत हो अपने हृदय की व्यथा निवेदित करते।

कठिन शोक का आघात जहाँ व्यक्ति को तोड़कर निराश और नास्तिक वना देता है, वहीं वह उसे आत्मस्थ होकर ईश्वराभिमुखी होने की प्रेरणा भी देता है। मध्य-गेह नारायण भट्ट को ऐसी ही प्रेरणा मिली थी।

एक वार विजयादशमी के एक दिन नारायण भट्ट

उड़ुपी में भगवान् विष्णु के मन्दिर में उपस्थित हुए। शुभ तिथि और शुभ बेला। श्रीमूर्ति के सम्मुख बैठकर भट्ट महाशय जप-ध्यान में तल्लीन हो गये। प्रहर पर प्रहर बीत चले। एक एक करके सभी भक्तगण अपने अपने घरों को चले गये। रात्रि गम्भीर हो उठी। पुजारियों ने श्री भगवान् के शयन की व्यवस्था की। उन्होने देखा कि एक भक्त अभी भी भाव विभोर हो भगवान् के ध्यान में बैठा है। उन्होंने भक्त के ध्यान में वाधा देना उचित न समझा। दीपक बुझा-कर वे लोग भी अपने कमरों में सोने के लिए चले गये।

गम्भीर रात्रि ! वातावरण शान्त और नीरव। अकस्मात् गर्भगृह एक दिव्य ज्योति से भर गया। भक्त भट्ट ने आश्चर्यचकित हो उस दिव्य ज्योति को देखा और आनन्दविभोर हो उठे। तभी एक अश्रुत पूर्व अत्यन्त मधुर दैवी कण्ठ स्वर सुन पड़ा--"प्रिय भट्ट ! शोक न करो। दो तरुण पुत्रों को खोकर तुमने वड़ा कष्ट पाया है। प्रारब्ध का फल सभी को भोगना पड़ता है। तुम्हारे वे पुत्र इतने ही दिनों के लिए इस लोक में आये थे। किन्तु तुम दुखी न होओ। एक वर्ष पश्चात् तुम्हारे घर एक शुभलक्षण सम्पन्न पुत्र होगा। वह तुम्हारे कुल को धन्य करता हुआ लोक कल्याणकारी होगा।"

दैवी वाणी सुनकर मध्यगेह के मन में आनन्द का सागर उमड़ पड़ा। इष्ट के चरणों में वारम्वार प्रणाम कर वे अपने घर लौट आए और पत्नी को दैववाणी का समाचार सुनाया।

दैवी वाणी फलित हुई। ठीक एक वर्ष पश्चात्, ११९९* ईस्वी में, माता वेदवती की कोख से शुभलक्षण सम्पन्न एक अत्यन्त सुन्दर बालक का जन्म हुआ। यही शिशु भविष्य में आचार्य मध्व के नाम से जगद्विख्यात हुआ। भगवान् विष्णु की कृपा से उस शिशु का जन्म हुआ था, इसलिए नारायण भट्ट ने उसका नाम वासुदेव रखा।

बालक वासुदेव† के बाल्य जीवन के सम्बन्ध में नाना प्रकार की वीरतापूर्ण एवं आश्चर्यजनक कथाएँ प्रचलित हैं। एक दिन बालक वासुदेव अपने साथियों के साथ घर के सामने गली में खेल रहे थे। उसी समय एक बहुत बड़ा साँड़ उस गली में आ पहुँचा। साँड़ को देख सभी बालक इधर-उधर भाग गये। किन्तु वासुदेव दूर न भाग साँड़ के पीछे गये और उसकी पूँछ पकड़कर झूलने लगे। पूँछ पकड़ी जाने के कारण साँड़ उत्तेजित हो उठा और पास के जंगल की ओर भागा। आसपास के लोग 'बचाओ', पकड़ो' चिल्लाते हुए साँड़ के पीछे भागे। साँड़ भागकर जंगल में घुस गया। कँटीली झाड़ियों और झाड़-झंखाड़ों के बीच वह कई घण्टों तक भटकता रहा, किन्तु बालक

---

*एक मत के अनुसार ११९७
The Cultural Heritage of India, vol. III.
Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta.

†मध्व के अनुयायी उन्हें वायु का अवतार मानते हैं। हनुमान, भीम उनके पूर्वावतार थे।—शंकरनाथ राय, 'भारतेर साधक' (बंगला) द्रष्टव्य Paryayam Souvenir 1970.

वासुदेव की मुट्ठी ढीली न हुई। वे साँड़ की पूँछ से लटके ही रहे। अन्त में साँड़ थककर चूर हो गया। वह गाँव में लौट आया तथा वासुदेव के घर की गली में भूमि पर लेट गया। तब कहीं बालक वासुदेव ने सगर्व उसकी पूँछ छोड़ी और वे एकत्रित लोगों को पूँछ में लटके हुए अपने वन भ्रमण की कहानी बतलाने लगे।

किशोर अवस्था के प्रारम्भ में ही वासुदेव का उपनयन संस्कार कर दिया गया। गाँव की पाठशाला में ही उन्हें पढ़ने के लिए भेजा गया। किशोर वासुदेव अद्वितीय प्रतिभा और बुद्धि के धनी थे। अध्यापक जो कुछ पढ़ाते, वह सब वे अल्पकाल में अनायास ही सीख लेते। उनकी अद्भुत मेधा-शक्ति देख अध्यापक चकित थे। कुछ ही वर्षों में वासुदेव शास्त्रों के पारंगत विद्वान् हो गये।

शारीरिक शक्ति और विकास में भी वासुदेव अद्वितीय थे। वे वज्रकठोर विशाल शरीर और अदम्य साहस से युक्त थे। खेल-कूद, व्यायाम आदि में वे सभी प्रतियोगियों को पीछे छोड़ आगे निकल जाते। कुश्ती की कला में विशेष निपुण होने के कारण मित्रों ने उन्हें 'भीम' की उपाधि दी थी।

तरुण अवस्था में पहुँचते तक वासुदेव ने अपने गाँव के आचार्य से सभी शास्त्र पढ़ लिये। गाँव में एक विद्वान् के रूप में उनकी ख्याति भी हो गयी, किन्तु वासुदेव के मन में शान्ति कहाँ? उनके हृदय में उच्चतर ज्ञान की तीव्र अभिलाषा जाग उठी थी। वे और भी किसी योग्य

आचार्य के पास जाकर शास्त्रों का मर्म जानना चाहते थे। इधर पिता के प्रभाव से उनका साधक - जीवन भी सुगठित हो चला था। मध्यगेह भट्ट के पूर्वज यद्यपि कर्म-काण्डी ब्राह्मण थे, तथापि मध्यगेह स्वयं भक्तिमार्ग के साधक थे। अनन्तेश्वर विष्णु उनके इष्ट थे। घर में शालग्राम शिला की पूजा होती थी। आचार्य रामानुज के आविर्भाव के पश्चात् दक्षिण भारत में भक्ति का जो प्रवाह चल पड़ा था, भट्ट उससे प्रभावित थे। पिता के सान्निध्य और निर्देश में सुपुत्र वासुदेव ने भी भक्ति मन्दाकिनी के अमृत रस का किंचित् स्वाद पा लिया था पर उनके हृदय में ज्ञान की अतृप्त पिपासा बनी हुई थी।

उन दिनों उड्‌पी में बहुत से विद्वान आचार्य तथा साधु संन्यासी रहा करते थे। इनमें वरिष्ठ एवं ख्यातिलब्ध सन्त थे आचार्य अच्युतप्रकाश। वे अद्वैत वेदान्त के मूर्धन्य विद्वान् एवं उच्च कोटि के साधक थे। अद्वैत वेदान्ती होते हुए भी भक्तिपथ की ओर उनकी हेय दृष्टि नहीं थी, अपितु भक्तिमार्ग को भी वे श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते। वे स्वयं भगवान् विष्णु और शिव के मन्दिरों में भी जाते।

साधक वासुदेव ने आचार्य अच्युतप्रकाश की ख्याति सुन रखी थी। अतः गाँव की शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् उनके मन में यह अभिलाषा जागी कि उड्‌पी जाकर आचार्य अच्युतप्रकाश की शरण लें और उनसे शास्त्रों का अध्ययन करें।

पिता की अनुमति ले विद्याभिलाषी वासुदेव उड्‌पी

में आचार्य अच्युतप्रकाश के मठ में पहुँचे, उनके चरणों में प्रणाम किया और अपना परिचय दिया तथा चरणों में बैठकर शास्त्र-अध्ययन करने की याचना की।

शुभलक्षण सम्पन्न तेजस्वी वलिष्ठ युवक को देख आचार्य वड़े प्रसन्न हुए। किन्तु वे जानते थे कि नारायण भट्ट एक उच्च कोटि के वैष्णव भक्त हैं और उनका समूचा परिवार भक्तिपथ का साधक है फिर उनका पुत्र अद्वैत के आचार्य के पास रहकर शास्त्र-अध्ययन क्यों करना चाहता है ?

उन्होंने तरुण वासुदेव से सस्नेह कहा, "वत्स ! मैं तुम्हारे पिता से भलीभाँति परिचित हूँ। वे एक सुपण्डित और भगवान् विष्णु के निष्ठावान् भक्त हैं। ऐसे भक्त के कुल में जन्म लेकर तुम मुझ जैसे अद्वैतवादी आचार्य के पास क्यों अध्ययन करना चाहते हो ?"

वासुदेव ने सनम्र निवेदन किया, "भगवन्, मैंने अपने पिता से सुना है कि अद्वैतवादी होकर भी भक्ति-मार्ग के प्रति आपकी श्रद्धा है। आप भगवान् विष्णु और शिव के मन्दिरों में जाते हैं, पूजा-अर्चना करते हैं। मैंने यह भी सुना है कि आपके ब्रह्मनिष्ठ गुरु आज्ञातीर्थ महा-राज दशनामी सम्प्रदाय के संन्यासी होकर भी भक्तिमार्ग के प्रति श्रद्धावान् थे। इसीलिए मैं आपकी चरणसेवा में उपस्थित हुआ हूँ। कृपापूर्वक अपने चरणों में स्थान दे मुझे कृतार्थ करें।"

जिज्ञासु वासुदेव की निष्ठा और श्रद्धा देख अच्युत-

प्रकाश बड़े प्रसन्न हुए। नवागन्तुक शिष्य की परीक्षा करने के लिए उन्होंने उससे शास्त्र-चर्चा प्रारम्भ की। थोड़ी सी ही चर्चा के पश्चात् आचार्य ने समझ लिया कि वासुदेव अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न हैं उसे आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा, "वत्स ! ईश्वर की कृपा से तुम विशेष प्रतिभा लेकर जन्मे हो। आनन्दपूर्वक इस मठ में रहो और मेरे साथ शास्त्रों का अध्ययन करो।"

वासुदेव ने कृतज्ञतापूर्वक आचार्य के चरणों में प्रणाम किया और मठवासी हो गए। वेद, उपनिषद, न्याय, सांख्य आदि ग्रन्थों का अध्ययन चलने लगा। गुरु अच्युतप्रकाश शास्त्रों की अद्वैतपरक व्याख्या करते, किन्तु दैव प्रतिभा सम्पन्न शिष्य वासुदेव अकाट्य तर्कों तथा सबल शास्त्र प्रमाणों के आधार पर गुरु के सन्मुख उन शास्त्रों की द्वैतपरक व्याख्या रखते। शिष्य की कुशाग्र बुद्धि तथा शास्त्र ज्ञान देख गुरु को अपार आनन्द होता।

धीरे धीरे वासुदेव की विद्वत्ता की ख्याति चारों ओर फैलने लगी। सभी के मुख पर उनके लिए सम्मान और प्रशंसा के शब्द थे। पुत्र की ख्याति सुनकर भट्ट दम्पती फूले न समाते।

वासुदेव अब युवा हो चुके थे। गुरु कृपा तथा कठोर परिश्रम से वे शास्त्रों के पारंगत विद्वान भी हो गए थे। अतः उनके पिता ने सोचा कि अब पुत्र का विवाह कर देना चाहिए। ऐसा निश्चय कर उन्होंने एक सुन्दरी सुयोग्य कन्या भी देख ली। अवसर देख एक दिन उन्होंने

वासुदेव से कहा, "वत्स ! अल्प काल में ही तुमने सारी विद्या प्राप्त कर ली है। तुम्हारी विद्वत्ता की कीर्ति चारों ओर फैल रही है। अब तुम युवा हो चुके हो। अतः विवाह कर गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करो। हमने तुम्हारे लिए एक सुयोग्य कन्या भी ढूँढ़ ली है। तुम्हारा विवाह हो जाने पर तुम्हारी माँ और मैं निश्चिन्त होकर भगवान् की पूजा-उपासना में अपने जीवन के शेष दिन बिता सकेंगे।"

युवक वासुदेव शान्तभाव से पिता की बातें सुनते रहे। फिर गम्भीर स्वर में उन्होंने कहा, "पिताजी ! धृष्टता के लिए मुझे क्षमा करें। मेरा जन्म गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने के लिए नहीं हुआ है। मैंने निश्चय कर लिया है कि संन्यास ग्रहण कर मैं अपना जीवन प्रभु की सेवा तथा उनकी भक्ति के प्रचार-प्रसार में अर्पित कर दूँगा।"

नारायण भट्ट के मस्तक पर मानो आसमान फट पड़ा। पुत्र का अप्रत्याशित संकल्प सुन उनका हृदय विदीर्ण हो उठा। नेत्रों से आँसू बहाते हुए कातर कण्ठ से उन्होंने कहा, "बेटा ! तुम यह क्या कह रहे हो ? मैंने सोचा था कि पढ़ लिखकर तुम एक प्रतिभाशाली आचार्य बनोगे, अपनी प्रतिभा से हमारे कुल का यशवर्धन करोगे, हमें दारिद्रय से मुक्त कराओगे। और कहाँ तुम सब कुछ छोड़कर सन्यास ग्रहण करने की बात कर रहे हो ! दुर्भाग्य से तुम्हारे दो बड़े भाइयों की मृत्यु हो गयी। उसके बाद हमने तुम्हारे लिए कितनी तपस्या की, कितने व्रत-अनुष्ठान किये, भगवान् नारायण से कितनी कातर प्रार्थनाएँ कीं,

तब कहीं प्रभु की कृपा से तुम्हारा जन्म हुआ। और अब तुम हमारा त्याग करना चाहते हो ?"

वासुदेव ने नम्रता से कहा, "पिताजी ! भगवान नारायण की कृपा से मेरा जन्म हुआ है, इसीलिए तो उनकी सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग करना चाहता हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए, जिससे मैं प्रभु की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग कर सकूँ।"

नारायण भट्ट ने तरुण पुत्र के भावना-पक्ष को झकझोरते हुए कातर स्वर में कहा, "वासुदेव ! तुम्हें हमने पढ़ा-लिखाकर योग्य बना दिया। अब तुम सामर्थ्यवान हो गये हो। अपने कल्याण के लिए, अपनी मुक्ति के लिए तुम हमारा त्याग कर संन्यास ग्रहण कर सकते हो, क्योंकि तुम स्वतन्त्र और शक्तिवान् हो। किंतु बेटा ! तुमने तो शास्त्र पढ़ा है ! हम गृहस्थ हैं। तुम हमारे एकलौते पुत्र हो। तुमने यदि संन्यास ग्रहण कर लिया, तो हमारा पिण्डदान कौन करेगा ? पिण्डदान के अभाव में हमारी दुर्गति नहीं होगी ? बोलो, इतने विद्वान् तथा शास्त्रज्ञ होकर भी क्या तुम हमारी दुर्गति के कारण बनोगे ? हमारा परलोक नष्ट करोगे ?"

पिता के कातर आग्रह ने तरुण वासुदेव के हृदय को झकझोर दिया। वे स्तब्ध भाव से खड़े खड़े कुछ क्षणों के लिए गहन विचारों में डूब गये। पिता भी अवाक् हो टकटकी लगाये पुत्र को देखते रहे।

कुछ देर पश्चात् वासुदेव ने गम्भीर स्वर में कहा,

"पिताजी ! मैं आपके परलोक को नष्ट नहीं होने दूँगा। यद्यपि मैं अपने गुरु की सेवा में ही रहूँगा, किन्तु अभी विधिवत् संन्यास ग्रहण नहीं करूँगा। ईश्वर की कृपा से मेरे एक छोटे भाई का जन्म होगा। उसके जन्म से आपके पिण्डलोप होने का भय जाता रहेगा। मेरे भाई के जन्म के पश्चात् ही मैं संन्यास ग्रहण करूँगा।"

मध्यगेह नारायण भट्ट निरुत्तर हो गये।

यद्यपि वासुदेव ने कुछ काल के लिए विधिवत् संन्यास ग्रहण करना स्थगित कर दिया था, तथापि गुरु के सान्निध्य में रहकर वे कठोर साधना और स्वाध्याय में लगे रहे। ईश्वर की कृपा से यथासमय उनके एक छोटे भाई का भी जन्म हुआ *। छोटे भाई के जन्म के पश्चात् वासुदेव ने पिता-माता से संन्यास ग्रहण करने की अनुमति प्राप्त कर ली और पच्चीस वर्ष की तरुण अवस्था में वे कठोर संन्यास-व्रत में दीक्षित हो गये।

(४)

वासुदेव के समान अद्वितीय मेधावी तथा सुयोग्य शिष्य को संन्यास की दीक्षा देकर अच्युतप्रकाश को अपार आनन्द हुआ। शिष्य की अद्वितीय प्रज्ञा के कारण उन्होंने उसे 'पूर्णप्रज्ञ' † नाम दिया।

---

* परवर्ती काल में माता-पिता के देहत्याग के पश्चात मध्व के छोटे भाई ने भी संन्यास ग्रहण कर लिया था। ये विष्णुतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुए।

† आचार्य मध्यगेह के पुत्र होने के कारण पूर्णप्रज्ञतीर्थ 'मध्वाचार्य' के नाम से भी प्रसिद्ध हुए।

आचार्यप्रवर अच्युतप्रकाश के मठ में संन्यासियों तथा छात्रों की भीड़ लगी रहती। कहना न होगा, मध्वाचार्य इन सबके चूड़ामणि थे। श्रीमद्भागवत, महाभारत तथा वेदान्त की भक्तिपरक व्याख्या में मध्वाचार्य निष्णात थे। न्यायशास्त्र पर भी उनका असाधारण अधिकार था। सुयोग मिलते ही वे ब्रह्मसूत्रभाष्य लेकर गुरु के पास बैठ जाते तथा उसकी भक्तिपरक व्याख्या गुरु से निवेदन करते और अद्वैतवादी व्याख्या की त्रुटियाँ बताते।

अद्वैतवादी संन्यासी होते हुए भी अच्युतप्रकाश का मन भक्तिरस से भरा हुआ था। अद्वैत की प्रखर-प्रचण्ड धारा के साथ साथ भक्ति-मन्दाकिनी की शीतल धारा भी उडुपी मठ से प्रवाहित हो यह उनकी इच्छा थी। अपने नवीन शिष्य की कठोर साधना, भक्ति और पाण्डित्य को देख गुरु को अपार हर्ष होता। उन्होंने यह समझ लिया कि निकट भविष्य में ही उनके सुयोग्य शिष्य द्वारा उडुपी मठ से भक्ति-मन्दाकिनी का प्रवाह निःसृत होगा, जो आसेतुहिमाचल सभी भक्तों के हृदयों को तृप्त करेगा।

गुरुसेवा, पूजा-उपासना आदि से जो समय बचता, उसमें मध्व पाँच-छह गुरुभाइयों या छात्रों को साथ ले बैठ जाते। वे लोग भागवतपुराण की विभिन्न प्रतियों का पाठ करते तथा मध्व उनकी तुलना कर असंगत अंशों को निकाल देते या उनमें सुधार करते। अपने संशोधन के पक्ष में वे इतने सबल तथा युक्तिपूर्ण तर्क देते कि सभी लोग उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाते। इस

प्रकार उन्होंने भागवत की एक शुद्ध प्रति तैयार कर ली, जिसमें से प्रक्षिप्त अंशों को निकाल दिया गया था।

इसी प्रकार एक बार पूर्णप्रज्ञ भागवत की नवीन व्याख्या कर रहे थे। श्रोताओं में एक पण्डित थे, जिन्हें पूर्णप्रज्ञ के भागवत-ज्ञान पर सन्देह था। उनके ज्ञान की परीक्षा लेने के लिए सभा के बीच में ही पण्डितजी ने श्री मध्व से भागवत के पंच स्कन्ध के अंशों की आवृत्ति करने के लिए कहा। विना एक क्षण रुके श्री मध्व निर्झर की तरह उन अंशों की आवृत्ति करने लगे। प्रश्नकर्ता पण्डित अवाक् होकर मध्व की आवृत्ति सुनते रहे। उन्हें मध्व के तलस्पर्शी शास्त्रज्ञान का प्रमाण मिल चुका था। लज्जित होकर उन्होंने श्री मध्व से क्षमा माँगी।

त्याग, तपस्या, ज्ञान और भक्ति के कारण श्री मध्व का यश चारों ओर फैल गया। आचार्य अच्युतप्रकाश भी शिष्य की साधना और स्वाध्याय से सन्तुष्ट थे। वे अब वृद्ध हो चले थे। उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि मठ-संचालन का कार्यभार अब वे पूर्णप्रज्ञ के सबल कन्धों पर रख देंगे।

एक शुभ दिन उन्होंने नगर के गण्यमान्य नागरिकों एवं वरिष्ठ साधु-सन्तों को बुलाया और उनसे कहा, "सज्जनो! मैं वृद्ध हो चला हूँ। इस मठ का संचालन अब मेरे लिए अत्यन्त श्रमसाध्य हो रहा है। मेरे युवा संन्यासी शिष्य पूर्णप्रज्ञ से आप सभी लोग परिचित हैं। वह सभी प्रकार से योग्य है। मेरी इच्छा है कि मैं उसे ही मठ के कार्य-संचालन का भार सौंप दूँ। आप सबकी इस विषय में क्या राय है?"

उपस्थित सभी लोगों ने एक स्वर से आचार्य अच्युत-प्रकाश के प्रस्ताव का समर्थन किया। सबकी सहमति जान आचार्य ने मध्व का विधिपूर्वक मठाधीश के पद पर अभिषेक किया। इस अवसर पर श्री मध्व को आनन्दतीर्थ नाम भी दिया गया। परवर्ती काल में आचार्य मध्व ने अपनी सभी रचनाओं में गुरु द्वारा मठाधीश के रूप में दिये गये नाम का ही उपयोग किया है। (क्रमशः)

## पाठकों विनम्र निवेदन

'विवेक-ज्योति' ने अपने गौरवशाली पन्द्रहवें वर्ष में प्रवेश किया है। आप सबके स्नेह और सहयोग ने पत्रिका को स्थैर्य प्रदान किया है। विगत दिनों जब अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने अपने मूल्य में वृद्धि कर दी, 'विवेक-ज्योति' का शुल्क वही रखा गया। आप सब जानते हैं कि इसमें व्यावसायिक विज्ञापन नहीं लिये जाते। अतः ऐसी विशुद्ध आध्यात्मिक पत्रिका के प्रकाशन में हमें किन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता होगा, इसका आप अनुमान लगा सकते हैं। यह कठिनाई कुछ मात्रा में दूर हो सकती है, यदि इसकी सदस्य-संख्या में वृद्धि हो। अतएव हम अपने प्रबुद्ध एवं स्नेही पाठकों से निवेदन करते हैं कि उनमें से प्रत्येक कम से कम एक वार्षिक सदस्य बनाकर हमारे इस कार्य को अपना शुभ सहयोग प्रदान करे।

एक साथ पाँच सदस्य बनानेवाले सहयोगियों को 'विवेक-ज्योति' एक वर्ष तक निःशुल्क प्रदान करने में हमें प्रसन्नता होगी तथा सौ सदस्य बनानेवाले सहयोगियों को विवेक-ज्योति की आजीवन सदस्यता सधन्यवाद प्रदान की जायगी।

--व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति

# स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में

"एक भक्त"

( स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के सबसे छोटे संन्यासी-शिष्यों में से थे एवं स्वामी विवेकानन्द के परम स्नेहभाजन गुरु-भाई थे। उनका हृदय मातृवत् उदार था, जिसमें सबके लिए, विशेषकर पीड़ितों और पददलितों के लिए, प्रेम और करुणा भरी हुई थी। स्वामी विवेकानन्द ने 'नर में नारायण की सेवा' के जिस कार्य का प्रवर्तन किया था, उसे तत्परता से स्वीकार करने और कार्य में रूपायित करने में वे अगुआ थे। उन्होंने अकाल-सेवा कार्यों का संचालन किया था। उन्होंने सारगाछी में १८९७ ई० में जो अनाथालय शुरू किया, वह रामकृष्ण मिशन का सबसे पुराना आश्रम है और आज वह एक महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक केन्द्र के रूप में विकसित हो गया है। स्वामी अखण्डानन्द में ध्यान और समर्पित कर्म श्रेष्ठ रूप से समन्वित हुए थे। इस प्रकार वे 'कर्म उपासना है' इस सीख के उज्ज्वल दृष्टान्त थे। वे बाद में रामकृष्ण संघ के तीसरे अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे।

'स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में' शीर्षक से हम एक नया धारावाहिक लेख इस अंक से प्रकाशित कर रहे हैं, जो श्रीराम-कृष्ण के इस महान् संन्यासी शिष्य के संस्मरण और उपदेश पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करेगा। इसके लेखक 'एक भक्त' स्वामी अखण्डानन्द के ही शिष्य हैं और रामकृष्ण संघ के एक संन्यासी हैं। प्रस्तुत लेखमाला मिशन की अँगरेजी मासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' में प्रकाशित हुई है, जहाँ से यह साभार गृहीत और अनूदित हुई है।—सं.)

**२८ जनवरी, १९३५**

सान्ध्य आरती और प्रार्थना के बाद 'भक्त' सारगाछी आश्रम में स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में बैठा हुआ था। कुछ ब्रह्मचारी पूजागृह में अपने सान्ध्य कर्म निपटाकर

वाहर आये और 'वावा' के समीप बैठ गये। आश्रम में स्वामीजी सवके पास 'बावा' के सम्बोधन से परिचित थे।

वाबा हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे—'असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय।'

कुछ क्षण के मौन के वाद वे पुनः कहने लगे—ईशोपनिषद् में लिखा है, 'जो लोग आत्मज्ञान की चेष्टा नहीं करते, वे आत्मघाती हैं।' आत्मज्ञान की चेष्टा में यदि मृत्यु भी हो जाय, तो श्रेयस्कर है।

यह आत्मा क्या है ? पहले आत्मा के वारे में सुनना पड़ता है, फिर मनन करना पड़ता है और उसके वाद ध्यान करना पड़ता है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को यह समझाते हुए कहते हैं—'आत्मा ही सबसे प्रिय है, आत्मा के लिए ही सब कुछ प्रिय है।'—

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति
आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥'

यह आत्मवस्तु ही एकमात्र है। अन्य कुछ भी नहीं है। सव कुछ आत्मा के लिए है। आत्मा से ही सव कुछ निकलता है और आत्मा में ही समा जाता है। सवके भीतर यह आत्मा सोया हुआ है। उसे जगाना होगा। प्रत्येक व्यक्ति इस आत्मा को अभिव्यक्त करने की

ही सर्वदा चेष्टा कर रहा है। यह चेष्टा ही साधना है।

तुम जो कुछ कर रहे हो, सभी साधना है—कभी यह जानकर करते हो, कभी अनजाने। जब तुम आत्म-साक्षात्कार कर लोगे, तो तुम सर्वत्र इसके अस्तित्व का अनुभव करोगे। यही सिद्धि है। इस अवस्था को प्राप्त करना ही लक्ष्य है। सभी को यह अनुभूति फिर से प्राप्त करनी होगी, क्योंकि वही हमारा स्वरूप है। ऐसा कभी न सोचो कि 'मैं ऐसा नहीं कर सकता, मैं दुर्बल हूँ।' जब भी तुम्हें हताशा घेरे, सदैव प्रभु की इस गीतोक्त वाणी का स्मरण करो—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ २/३

—'हे पार्थ ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तुझे शोभा नहीं देता। हे परंतप ! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर उठ खड़ा हो।'

अर्जुन ने सोचा था, 'अपने इन आत्मीय-स्वजनों की हिंसा करने के बदले मर जाना अच्छा है।' वह भूल गया कि प्रभु उसके सारथि हैं, मार्गदर्शक और गुरु हैं, सखा हैं। वह माया से अभिभूत हो गया। इसीलिए भगवान् उसे आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए उत्साहित करते हैं। युग युग से वे तो यही करते आ रहे हैं।

आत्मज्ञान क्या इतना सरल है ? ईश्वर के अवतार तो साक्षात् भगवान् हैं, तथापि उन्हें भी कितनी तपस्या साधना करनी पड़ती है, फिर दूसरों की तो बात ही नहीं।

अन्य कोई उपाय नहीं, पूरे हृदय से ईश्वर को पुकारो; उनसे कहते रहो––'प्रभो ! मुझे दर्शन दो। मुझे और कुछ नहीं चाहिए, स्वर्ग-सुख भी नहीं चाहिए, मैं बस तुम्हें चाहता हूँ। प्रभो! मेरी भोग-वासना दूर कर दो।' स्वार्थपरता के संकीर्ण परिवेश में आत्म-विकास असम्भव है। यदि भोगवासना का लेशमात्र भी रहे, तो भी आत्मोन्नति सम्भव नहीं।

हे प्रभो ! मैं तुमसे सुखी जीवन की याचना कैसे कर सकता हूँ ? जब भी तुमने अवतार लिया है, तुमने कभी सुख नहीं पाया। तुम तो सबसे दुःखपूर्ण जीवन बिता गये हो। राम के रूप में, अयोध्या के राजकुमार होकर भी, तुमनें वनवासी जीवन बिताया। फिर अपनी प्रिय पत्नी सीता को भी खो बैठे, जिसे कितनी परेशानी उठाकर फिर से प्राप्त किया। कृष्ण के रूप में, राजपुत्र होकर भी, तुमने कारागार में जन्म लिया और तुम अपनी जन्मदायिनी माँ से दूर कर दिये गये तथा ग्वालों के बीच तुम्हें बड़ा होना पड़ा। तुम्हारा सारा जीवन युद्ध में बीता, दुष्टों को दण्ड देते हुए व्यतीत हुआ। तुम्हें व्यक्तिगत जीवन में कभी शान्ति नहीं मिली और तुम पृथ्वी में शान्ति की स्थापना के लिए तत्पर रहे। फिर भी सभी तुम्हें कुरुक्षेत्र के युद्ध का दोषी बनाते हैं। तुमने भी लोगों का सारा दोषारोपण और श्राप अपने सिर पर ले लिया। तुम कभी राज-सिंहासन पर नहीं बैठे। तुमने अपनी आँखों के सामनें अपने आत्मीय-स्वजनों को मरते देखा और अन्त में

बहेलिये के अज्ञानवश छोड़े गये तीर से बिंधकर तुमने मृत्यु का आलिंगन कर लिया। बुद्ध और ईसा के रूप में भी तुमने बहुत कष्ट सहा है, सिर टेकने की जगह भी तुम्हें नहीं मिली है।

फिर, तुम अपने इस नये (रामकृष्ण) रूप में कितना कष्ट सह गये हो--संसार को केवल यही दिखाने के लिए कि तुम्हारी इन पूर्व अभिव्यक्तियों में कहीं कोई भूल नहीं, और यह कि धर्मजीवन कोई दिवास्वप्न नहीं है। तुम दीनता के अवतार बनकर आये---उद्धत संसार को दीनता की शिक्षा देने के लिए। तुममें ईश्वर के अवतार का कोई बाह्य लक्षण नहीं था। किसी ने तुम्हें माली समझ लिया था और उसके कहने पर तुमने उसे फूलतोड़कर दे दिया। किसी ने तुम्हें नौकर समझ लिया था और तुमने उसे तम्बाकू सजाकर दे दिया। तुमने भिखारियों की जूठी पत्तलें उठाकर सफाई की। फिर, मेहतरों का शौचालय तुमने साफ किया!

हमारे लिए और कोई भी उपाय नहीं है--- बस, उनका नाम और उनका ध्यान। मन को शुद्ध करने के लिए निष्काम कर्म---सेवाधर्म।

चैतन्यदेव विशेषतः नाम-प्रचार के लिए आये थे। वे कहते हैं---

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिः<br>
तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।<br>
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि

दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ।।
— 'तुम्हारे अनेक नाम हैं और तुम्हारा प्रत्येक नाम शक्ति से सम्पन्न है। तुम्हारा नाम लेने के लिए न तो कोई निश्चित समय है, न स्थान। तुम इतने कृपालु हो, फिर भी हे नाथ! मैं ऐसा अभागा हूँ कि मुझे तुम्हारे किसी भी नाम में अनुराग नहीं हुआ।'

जब चैतन्य देव ऐसी बात कहते हैं, तो दूसरों की क्या बात? पर अवतारी पुरुष अपने ऊपर जीव का आरोपण कर उसके समान बातें करते हैं।

आज का धर्म पहले के सभी धर्मों का समन्वय है। हमें ज्ञान चाहिए, हमें भक्ति चाहिए, हमें कर्म चाहिए। केवल एक से काम नहीं चलने का, हमें ये सभी चाहिए। ठाकुर और स्वामीजी दोनों मिलकर परिपूर्ण आदर्श हैं। यह ज्वलन्त आदर्श अपने सामने रख आगे बढ़ना होगा। और क्या कहूँ? उनकी त्याग-तपस्या को देखो, उनकी पर दुःख-कातरता को देखो, दूसरों के दुखः-कष्ट दूर करने का उनका उद्यम देखो। यही जीवन है। तुम्हारे जीवन का यही उद्देश्य है, यही अर्थ है।

तुमने विज्ञान एवं अन्य विषयों को पढ़ा है। यह ठीक है। इन विषयों के सम्बन्ध में और भी पढ़ो, पर जानो कि यह सब माया के अन्तर्गत है, माया के इसी पार है, और हम सबको माया के उस पार जाना है। माया एक जादू के समान है और हमें जादूगर को देखना है। माया के पार जानें का रास्ता माया में से होकर ही जाता है।

पहले मालिक से मिलो, वह बता देगा कि उसके कितने बगीचे और मकान हैं। बड़ा कौन है--मालिक या उसका बगीचा ?

कुछ लोग सोचते हैं कि दीक्षा होने से ही हो गया, फिर रामकृष्ण परमहंस के शिष्य से दीक्षा होने पर तो बात ही क्या ! ऐसा मत सोचो। अपने मन के सामने सतत यह विचार रखो कि ठाकुर ने कितनी कठोर साधना की थी और उनके शिष्यों ने भी। वे ही अनुसरणीय आदर्श हैं।

साधना क्या है ? तुम जो भी करते हो, वह साधना है। कहीं जाओ तो सोचो कि उन्हीं को पाने के लिए जा रहे हो। और जब खाओ ? हाँ, सोचो कि जीने के लिए तुम खाते हो और उन्हें पाने के लिए जीते हो।

समस्त कर्म साधना है। यदि कभी तुम्हें ऐसा लगे कि यह कर्म मुझे उनकी ओर नहीं ले जायगा, तो उसे तुरन्त छोड़ दो। प्रत्येक क्रिया के माध्यम से उनकी ओर जाने का हमारा प्रयास ही साधना कहलाता है।

सदैव प्रसन्न रहो। तुम्हारे चेहरे से मुसकराहट बिखरती रहे। भय किसका ? चिन्ता कैसी ? अनावश्यक रूप से मुँह उतारे मत रहो। दूसरे लोग ऐसा मत सोचें, 'अच्छा ! वह किसी बात पर गम्भीरता से विचार कर रहा मालूम होता है।' ठाकुर हमसे कहा करते थे, 'जब मैं तुम लोगों को ठोड़ी पर हाथ रखे देखता हूँ, तो मुझे कष्ट होता है।' वे ऐसा दृश्य देख नहीं सकते थे।

मैंने बहुत कुछ कह दिया। अब यह महान आदर्श

अपने सामने रख काम में लग जाओ। यही जीवन है। उनके विना जीवन भला क्या है ? सुख ? सुख कहाँ है ? सर्वत्र दुःख और कष्ट ही का बोलबाला है। आँखें बन्द कर लोग चिल्लाते हैं, 'आ ! यह सुख है, सुख।' आँखें खोलकर देखो, तो सब पीड़ा, चाह और सन्ताप ही दिखेगा। कोई सन्तुष्ट नहीं, सुखी नहीं।

यहाँ कोई सुख नहीं, शान्ति नहीं। हो भी कैसे सकती है ? यह संकीर्णता, यह स्वार्थपरता--यह हमारी जगह नहीं। हम इन सबसे मुक्त होना चाहते हैं। वही सच्चा सुख है, सच्ची तृप्ति है। वही शान्ति है, आनन्द है।

जब तक जीना अनिवार्य है, तब तक संसार में रहो, पर उनके साथ रहो। उन्हें पुकारो। उनका नाम लो और चले चलो। सबमें उनका स्पर्श देखो, सबमें उनका अनन्त प्रकाश अनुभव करो।

विश्वास रखो और अनुभव करो कि सब कुछ वही है और वे ही सब कुछ हैं। उनके बिना संसार में कुछ नहीं है। उन्हीं ने सब कुछ अपने में से प्रकट किया है।

विश्वास करो कि हमें अपने खोये आत्मा को फिर से प्राप्त करना है और जब तक लक्ष्य न मिल जाय, रुको मत। स्वामीजी के इन शब्दों का स्मरण करो, 'आदर्श को भूलना नहीं, और न उसे नीचे ही उतारना। शक्ति के लिए प्रार्थना करो। सतत प्रार्थना करो।'

# मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

## (१) दान दिये धन ना घटे

सन्त नजीर परमात्मा के परम भक्त थे। उनका विश्वास था कि भगवान् जो कुछ करते हैं, भलाई के लिए ही करते हैं, तथा दीन-दुखियों की सेवा भगवान् की सेवा होती है। वे पेशवा के लड़के को मकतब पढ़ाने जाया करते थे। उनके आने-जाने के लिए पेशवा ने एक घोड़ी भी दे रखी थी।

एक बार वे अपना वेतन लेकर घोड़ी पर चढ़कर आ रहे थे कि रास्ते में उन्हें एक वृद्ध मिला। उसने नजीर को रोककर प्रार्थना की कि वे उसे कुछ आर्थिक सहायता करें। पूछने पर उसने बताया कि उसे अपनी लड़की का विवाह करना है। यदि उसे कुछ रुपये मिलें, तो वे विवाह के काम आ सकेंगे। नजीर बोले, "बावा ! तुम्हारी जरूरत मेरी जरूरत समझो। ईश्वर की इच्छा थी कि हम दोनों की मलाकात हो, इसीलिए उसने यह भेंट करायी है। अच्छा हुआ, आज मेरी गाँठ में खासी रकम है। इसे लो और बेटी का विवाह कराओ।" और उन्होंने सचमुच अपना पूरा वेतन उस बूढ़े को दे डाला। बूढ़े ने स्वप्न में भी सोचा न था कि एक व्यक्ति से ही उसे इतना अधिक रुपया मिलेगा। नजीर की उदारता देख उसकी आँखों में आँसू आ गये। उसने उन्हें बारबार धन्यवाद दिया। यह देख नजीर बुदबुदाये—

दौलत जो तेरे पास है, याद रख तू ये बात ।
खा तू भी और अल्लाह की कर राह में खैरात ।।

**(२) मेरे तो गिरधर गोपाल**

सन्त रज्जब जब युवा हुए, तो उनके माता-पिता ने उनका विवाह-सम्बन्ध तय किया । बारात सांगानेर से आमेर की ओर रवाना हुई । रास्ते में एक साधु का पड़ाव पड़ा । रज्जब को बचपन से ही साधु-सन्तों पर बड़ी श्रद्धा थी । वे घोड़े से उतरे और उन्होंने वहाँ बैठे साधु से आशीर्वाद माँगा । यह साधु सन्त दादू थे । उन्होंने रज्जब की ओर देखा और उनके मुख से निम्न शब्द प्रस्फुटित हुए---

रज्जब तैं गज्जब किया, सिर पर बाँधा मौर ।
आया था हरिभजन कू, करै नरक की ठौर ।।

इन शब्दों नें रज्जब के कलेजे पर तीर का सा वार किया । उनके हृदय में भगवत्-प्रेम की ज्योति जल उठी । उन्होंने माता-पिता से साफ साफ कह दिया कि वे अब विवाह नहीं करेंगे और अपना जीवन ईश्वर की सेवा में बिताएँगे । उनके माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों ने हठधर्मी छोड़ने के लिए उन्हें काफी समझाया, मगर वे अपनी बात पर अड़े रहे । तब उन लोगों ने सन्त दादू के पैर पकड़कर प्रार्थना की कि वे रज्जब को समझाएँ ।

दादू रज्जब से बोले, "तुम गृहस्थी में भी भगवान् की सेवा कर सकते हो । विवाह न करने पर हो सकता है, परस्त्री पर नजर पड़ते ही विचलित हो जाओ ।"

रज्जव ने उत्तर दिया, "मेरे नैनों में आपकी और प्रभु की मोहिनी मूर्ति समा गयी है। प्रभु के सिवा कोई भी सौन्दर्य अब मुझे आकर्षित नहीं कर सकता। आप जान लीजिए—

रज्जब घर धरणी तजे, पर धरणी न सुहाय।
अहि तजि अपनी कंचुकी, काको पहिरे जाय।।

मुझे प्रियतम इसी वेष में मिले हैं, इसलिए अब मैं हमेशा इसी वेष में रहूँगा।" और रज्जब ने आजन्म दूल्हा-वेष ही धारण किया।

**(३) गुरु गोविन्द कृपा करें, सहजै ही तिरि जाई**

महात्मा नाभादास की आयु जब पाँच-छह वर्ष की थी, तब भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था। उनकी माता स्वयं का पेट भरने में असमर्थ थी, फिर भला बच्चे का कैसे पालन करे! आखिर उसने बच्चे को एक दिन जंगल में छोड़ ही दिया। संयोग से वहाँ से सन्त अग्रदास गुजरे और उन्होंने बालक नाभादास को सोता हुआ पाया। वे उसे अपने साथ 'गलता' ले गये। उन्होंने उसका पालन कर बड़ा किया और दीक्षा दी।

एक बार अग्रदास मानसपूजा में मग्न थे। अचानक उन्हें प्रतीत हुआ कि उनके एक प्रिय शिष्य का जहाज समुद्र में डूब रहा है। वे चिन्तित हो गये। समीप ही नाभादास भी बैठे थे। उन्हें अन्तर्ज्ञान से यह बात मालूम हो गयी। उन्होंने जब देखा कि पूजा में व्यवधान हो रहा है, तब उन्होंने प्रभु रामचन्द्रजी से जहाज को डूबने से

बचाने की प्रार्थना की। अर्न्तदृष्टि से उन्होंने पाया कि जहाज डूबने से बच गया है। वे गुरु से बोले, "प्रभु राम की कृपा से जहाज बच गया है। आप पूजा को निर्विघ्न समाप्त करें।"

यह देख अग्रदास बड़े प्रसन्न हुए। पूजा समाप्त होने पर उन्होंने सोचा कि जब यह व्यक्ति एक जहाज को डूबने से बचा सकता है, तब निश्चय ही यह असंख्य व्यक्तियों को भवसागर पार कराने में समर्थ होगा। उन्होंने नाभा-दास को सन्त-चरित्र लिखने की आज्ञा दी। तब नाभादास ने भवसागर तारन हेतु 'भक्तमाल' रूपी नौका की रचना की, जिसमें उनकी निम्न उक्ति उपलब्ध है——

अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तन के जस गाउ।
भवसागर के तारन को, नाहिन और उपाऊ॥

**(४) जाकी रही भावना जैसी**

अष्टछाप के एक कवि महात्मा छीतस्वामी बीरबल के पुरोहित थे। अकबर बादशाह उनकी निष्काम भक्ति का आदर करता था। एक बार वे अपना वेतन लेने सीकरी गये और उन्होंने वहाँ निम्न पद गाया——

जे वसुदेव किये पूरन तप
तेई फल फलित श्री वल्लभदेह।
जो गोपाल हुते गोकुल में
तेई आनि बसे करि गेह॥
जे वो गोप वधू ही ब्रज में
तेई अब वेदरिचा भई येह।

छीतस्वामी गिरिधरन श्री विट्ठल
तेई एई तेई कछु न संदेह ॥

बीरबल ने जब यह पद सुना, तो बोले--महाराज ! आप विट्ठलनाथजी को श्रीनाथजी का स्वरूप समझते हैं, मगर बाहशाह को इनकी एकरूपता में सन्देह होगा । वे यह पद सुनेंगे, तो आप पर रुष्ट हो जाएँगे ।"

"सन्देह बादशाह को नहीं, तुम्हें है बीरबल !" छीत-स्वामी बोले, "भगवान् पर अविश्वास तुमने व्यक्त किया है और मुझे तुमसे यह उम्मीद न थी । मैं अब तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता ।" यह कहकर वे वहाँ से चले गये और उन्होंने बीरबल का पौरोहित्य छोड़ दिया ।

कहा जाता है कि उस समय छीतस्वामी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, मगर अपने यजमान द्वारा देवता के प्रति निकाले गये शब्द उन्हें कटु लगे । बीरबल द्वारा क्षमा माँगे जाने पर और विनय करने के बाद भा वे उसके पास कभी नहीं गये ।

**(५) गला सत्य का घोटिन, खुसामद बचन न उतारो**

कवि श्रीपति निर्धन थे, मगर निर्भीक और आत्म-सम्मानी थे । भिक्षा में जो कुछ पाते, उसी से अपना जीवन-निर्वाह करते थे । पत्नी गरीबी से त्रस्त हो चुकी थी । उसने अकबर की प्रशंसा सुनी, तो पति को उसके पास भेजा । उनकी भक्तिपरक रचनाओं से बादशाह सन्तुष्ट हो गया और उसने उन्हें अपने दरबार में रख लिया । उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को सुन बादशाह प्रसन्न

हो उन्हें उचित इनाम देता । इससे कुछ मुसलमान कवियों को श्रीपति से ईर्ष्या हुई । उन्होंने सोचा कि यह व्यक्ति हमेशा भगवान् के ही गुण गाता है, स्वयं बादशाह का बखान कभी नहीं करता, इसलिए इसे नीचा दिखाया जाय । एक दिन उन्होंने दरबार में समस्या-पूर्ति के लिए यह पंक्ति दी —"करो मिलि आस अकब्बर की' ।

अन्य कवियों ने इस पंक्ति को लेकर अकबर की प्रशंसा में पुल बाँध दिये । अब बारी श्रीपति की थी । यह बात उन जैसे भगवद्भक्त के उसूल के खिलाफ थी । उन्होंने निर्भीकता से निम्न कवित्त कहा—

अबके सुलतान फनियान समान हैं,<br>
बाँधत पाग अटब्बर की ।<br>
तजि एक को दूसरे को जु भजे,<br>
जीभ गिरैवा लब्बर की ॥<br>
सरनागत 'श्रीपति' रामहि की,<br>
नहिं त्रास है काहुहि जब्बर की ।<br>
जिनको हरि मे परतीति नहि,<br>
सो करौ मिलि आस अकब्बर की ॥

उनसे द्वेष करनेवालों ने सोचा था कि आज तो श्रीपति को बादशाह की चापलूसी करनी पड़ेगी, मगर यह कवित्त सुनते ही उन्हें निराशा हुई, वहीं दूसरी ओर भगवत्प्रेमी दरबारी मन ही मन प्रसन्न हो गये ।

०

# विवेकानन्द और मजूमदार

*ब्रह्मचारी चिन्मय चैतन्य*

शिकागो धर्ममहासभा में स्वामीजी की अभूतपूर्व सफलता देख श्री प्रतापचन्द्र मजूमदार ईर्ष्याग्नि से जल उठे थे। उन्हें स्वयं पहले अमेरिका में एक वक्ता के रूप में प्रचुर सम्मान प्राप्त हुआ था। पर स्वामीजी की प्रखर वाग्मिता और तेजस्विता के सामने उनका व्यक्तित्व धूमिल हो गया। किस प्रकार विद्वेष से अभिभूत हो उन्होंने जगह जगह स्वामीजी की निन्दा और मिथ्यालोचना की इसका विवरण हमने पहले दिया है। यहाँ तक कि वे स्वामीजी के दूसरे विरोधियों—कट्टर पादरियों, थियोसॉफिस्टों और रमाबाई सर्किल के सदस्यों—के साथ एक हो स्वामीजी की चारित्रिक हत्या के प्रयास में भी पीछे नहीं रहे। न केवल वे स्वामीजी की निन्दा करते रहे, वरन् उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण को भी नहीं छोड़ा। श्री मजूमदार ने श्रीरामकृष्ण देव का सान्निध्य लाभ किया था और उन पर एक सुन्दर भावपूर्ण लेख भी लिखा था, जिसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—" . . . वह अद्भुत व्यक्ति जब भी और जहाँ भी जाता है, तो अपने चारों ओर एक दिव्य ज्योति विखेरता जाता है। मेरा मन अभी भी उस ज्योति में तैर रहा है। जब भी मेरी उनसे भेंट होती है, वे मेरे मन में एक ऐसा रहस्यपूर्ण और अवर्णनीय रस उड़ेल देते हैं, जिससे मन अभी भी मोहित है। . . . यदि उनके समस्त वचन लिपिबद्ध किये जा सकते, तो उनसे एक

विलक्षण और आश्चर्यजनक ज्ञान का भण्डार बन जाता। . . . ये सन्त शुद्ध और निष्पाप हैं तथा हिन्दू धर्म के गाम्भीर्य और माधुर्य के जीवित प्रमाण हैं। उन्होंने इन्द्रियों पर पूरी तरह विजय पा ली है। उनका सर्वांग मानो आत्मा से भरा है, धर्म की सत्यता से परिपूर्ण है, आनन्द और निश्छल पावित्र्य से ओतप्रोत है। . . . अपने छोटे से जीवन में वे ईश्वर को छोड़कर न तो अन्य किसी का विचार करते हैं, न अन्य कोई बात। ईश्वर के अतिरिक्त उनका न अन्य कोई आत्मीय है, न मित्र। ईश्वर ही उनके लिए सब कुछ है—वे अन्य किसी की चाह ही नहीं करते। उनकी निष्कलंक पवित्रता, उनका गहरा अवर्णनीय आनन्द, बिना अध्ययन का उनका अन्तहीन ज्ञान, समस्त मानवों के प्रति उनका शिशुवत् स्नेह और निर्द्वन्द्व भाव तथा ईश्वर के प्रति उनका सर्वग्राही और सर्वशोषी प्रेम—यही उनके लिए ईश्वर का प्रतिदान है। और ईश्वर करे, उन्हें यह प्रतिदान लम्बे समय तक प्राप्त होता रहे! हमारा धर्म सम्बन्धी अपना आदर्श उनके आदर्श से भिन्न है, तथापि जब तक वे हमारे बीच हैं, हम आनन्दपूर्वक उनके चरणों तले बैठेंगे और उनसे पवित्रता, असांसारिकता, अध्यात्म और ईश्वर-प्रेम में मस्ती के उदात्त तत्त्वों को सीखेंगे।"

स्वामीजी ने अपने गुरुदेव के बारे में लोगों को जानकारी देने के लिए, अपनी मित्र-मण्डली के बीच इस पुस्तिका का वितरण किया था। अन्य माध्यमों से भी

वह पुस्तिका लोगों के हाथ लगी थी। एक दिन एक सान्ध्य भोज में जब मजूमदार महाशय धुआँधार शब्दों में स्वामीजी और उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण की आलोचना कर रहे थे, श्रोताओं में से एक ने उठकर उक्त पुस्तिका मजूमदार के हाथ में थमाते हुए कहा, "आपने ही यह लेख लिखा है न!" मजूमदार ने क्या उत्तर दिया यह तो ज्ञात नहीं और न जानने की ही आवश्यकता है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि उनके जैसा अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति और कह ही क्या सकता था ?

मजूमदार का दुष्प्रचार केवल अमेरिका के शहरों तक सीमित नहीं रहा, भारत लौटने के बाद भी उनका यह कार्य अनवरत रूप से चलता रहा। स्वामीजी ने मेरी हेल को १ ८मार्च१८९४ के पत्र में लिखा—"...मजूमदार कलकत्ता लौट गया है और यह प्रचार कर रहा है कि विवेकानन्द अमेरिका में दुनिया भर के सारे पाप कर रहा है।...यही तो तुम्हारे अमेरिका का 'अद्भुत आध्यात्मिक पुरुष' है! ... मुझे बेचारे मजूमदार के लिए अफसोस है कि वह इतना नीचे उतर आया। वह कहता है कि मैं अमेरिकन महिलाओं के साथ पाशविक अनैतिक जीवन बिता रहा हूँ! भगवान् उस वयस्क बच्चे का भला करे—मैं समझता हूँ, अमेरिका की महिलाएँ मुझे कहीं अच्छी तरह जानती हैं।" ९ अप्रैल के पत्र में स्वामीजी ने आलासिंगा को लिखा—"... निस्सन्देह कट्टर पादरी मेरे विरुद्ध हैं और मुझसे मुठभेड़ करना

कठिन जानकर हर प्रकार से मेरी निन्दा करते हें। मुझे बदनाम करने तथा मेरा विरोध करने में भी नहीं हिचकिचाते। और इसमें मजूमदार उनकी सहायता कर रहा है। वह द्वेष के मारे पागल हो गया लगता है। उसने उन लोगों से कहा है कि मैं बहुत बड़ा धोखेबाज और धूर्त हूँ! और इधर वह कलकत्ते में कहता फिर रहा है कि मैं अमेरिका में अत्यन्त पापपूर्ण और लम्पट जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। भगवान् उसका भला करे। . . .”

अपना अनिष्ट चाहनेवाले के प्रति भी आशीर्वचन कहना स्वामीजी जैसे सन्त का ही कार्य था। अपने अमेरिका-प्रवास में उन्होंने कभी मजूमदार अथवा अपने किसी अन्य विरोधी का प्रतिवाद नहीं किया। ऐसा करना उनके स्वभाव के सर्वथा विपरीत था। किन्तु जब मजूमदार ने भारत लौटकर उनके विरुद्ध विष-वमन करना प्रारम्भ किया, तो स्वामीजी को बड़ी पीड़ा हुई, इसलिए नहीं कि वह उनके विरुद्ध दुष्प्रचार में रत था, वरन् इसलिए,कि जैसा उन्होंने ईसाबेल मैक्किंडली को २६ अप्रैल १८९४ के पत्र में लिखा—“ . . . मेरी बूढ़ी माँ हैं। वे जीवन भर यातना सहती रहीं और इन दुःख-कष्टों के बावजूद उन्होंने मुझे ईश्वर और मानव की सेवा हेतु अर्पित कर दिया। किन्तु जब वे जानेंगी कि उन्होंने अपनी सबसे प्यारी सन्तान को—अपनी आशा को—दूर देश में घोर अनैतिक, पाशविक जीवन बिताने के लिए त्यागा—जैसा कि मजूमदार कलकत्ते में प्रचारित कर रहे हैं, तो वे प्राण ही त्याग देंगी।”

मजूमदार के दुष्प्रचार के बावजूद कलकत्ते का प्रबुद्ध वर्ग स्वामीजी के कार्यों के प्रति प्रशस्ति और श्रद्धा से पूरित था। वहाँ के समाचार-पत्रों में उनके प्रति कृतज्ञता-पूर्ण उच्छ्वासों से भरे पत्र प्रकाशित हुए थे। दो प्रमुख पत्रिकाओं--'अमृत बाजार पत्रिका' तथा 'इण्डियन मिरर'—के सम्पादकों ने अपने सम्पादकीय लेखों में उनके कृतित्व की भूरि भूरि प्रशसा की थी। इसी बीच एक पुस्तिका भी प्रकाशित हुई थी, जिसमें उनके कार्यों की प्रशंसा करते हुए उनके प्रति आन्तरिक श्रद्धा व्यक्त की गयी थी। स्वामीजी ने उक्त पुस्तिका प्राप्त करने के पश्चात् ईसाबल को उसी पत्र में लिखा, "... भारत से आयी जो डाक तुमने कल मुझे भेजी है, ... उसमें कलकत्ते से प्रकाशित मेरे बारे में एक पुस्तिका है—स्पष्ट है कि पैगम्बर को अपने जीवनकाल में ही कम से कम एक बार तो अपने देश में सम्मान प्राप्त हुआ। इसमें भारतीय एवं अमेरिकन अखबारों और पत्रों में मेरे बारे में प्रकाशित सामग्री के उद्धरण ह। कलकत्ते के पत्रों में प्रकाशित उद्धरण तो विशेषकर सन्तोषप्रद हैं, पर शैली इतनी प्रशंसायुक्त है कि मैं तुम्हारे पास भेजना नहीं चाहूँगा। उन्होंने मुझे यशस्वी, अद्‌भुत तथा इसी ढंग की बेकार की बातों से विभूषित किया है। परन्तु उन्होंने मुझे सारे राष्ट्र की कृतज्ञता भी भेजी है। ... क्या तुम जानती हो, हमारे प्रमुख समाचार-पत्रों का वह सम्पादक कौन है, जो मेरी इतनी प्रशंसा करता है तथा ईश्वर को धन्यवाद देता है

कि मैं हिन्दुत्व का प्रतिनिधित्व करने अमेरिका आया ? वह मजूमदार का चचेरा भाई है ! बेचारा मजूमदार! ईर्ष्यावश झूठ बोलकर उसने अपना ही अहित किया है। ईश्वर जानता है, मैंने अपनी सफाई देने का कोई प्रयास नहीं किया।"

पर मजूमदार की ईर्ष्याग्नि शान्त होनेवाली न थी। 'इण्डियन मिरर' और 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित स्वामीजी की प्रशस्ति उन्हें सहन कैसे होती ? शीघ्र ही उनके नेतृत्व में प्रकाशित होनेवाली ब्राह्मसमाज की पत्रिका 'यूनिटी एण्ड दि मिनिस्टर' में स्वामीजी के विरुद्ध कई लेख प्रकाशित हुए, जिन्हें अमेरिका के 'बोस्टन डेली एडवरटाइजर' ने अपने १६ मई के अंक में छापा। उन लेखों का एक अंश निम्न प्रकार था, "'इण्डियन मिरर" पत्रिका ने अपने पिछले कई अंकों में नवहिन्दू बाबू नरेन्द्रनाथ दत्त उर्फ विवेकानन्द की प्रशंसा में कई दीर्घ सम्पादकीय प्रकाशित किये हैं। संन्यासी के नाम पर ऐसी प्रशस्ति प्रकाशित करने के हम विरोधी नहीं, पर जिस दिन वे नववृन्दावन नाटक में अभिनय करने रंगमंच पर अवतीर्ण हुए थे, या नगर के एक ब्राह्मसमाज में उन्होंने गाना गया था, उसी दिन से हम उनके चरित्र के बारे में ऐसे वाकिफ हो चुके हैं कि समाचार-पत्रों में उनकी प्रशस्ति में प्रकाशित ढेर सारे लेख भी उनके चरित्र के प्रति बनी हमारी धारणा पर कोई नयी रोशनी नहीं डाल सकते। हमें प्रसन्नता है कि हमारे पुराने मित्र ने बाद में अपने भाषणों द्वारा अमेरिका में अच्छी ख्याति अर्जित की है, किन्तु

हम यह भी जानते हैं कि हमारे मित्र जिस नवहिन्दुत्व के प्रतिनिधि हैं, वह प्राचीन हिन्दू धर्म नहीं है, जिसका कि अनुयायी कभी कालापानी (समुद्र) पार करने, म्लेच्छों के हाथों अन्न ग्रहण करने तथा लगातार सिगार फूँकने की कल्पना भी नहीं कर सकता। सच्चे पुरातनपन्थी हिन्दू के प्रति हमारा जो आदर भाव है, उसे आधुनिक हिन्दू धर्म का कोई भी अनुयायी अर्जित नहीं कर सकता। विवेकानन्द की प्रसिद्धि की वृद्धि के लिए हमारे सहयोगी मित्र भले ही अथक प्रयास करें, पर ऐसी भद्दी अनाप-शनाप बातें छापना हमारी बर्दाश्त से परे है। . . ."

इन श्लेषपूर्ण उक्तियों का सीधासादा अर्थ यही था कि स्वामीजी विवेकानन्द होकर भी वही नरेन्द्रनाथ दत्त हैं। वे सच्चे हिन्दू नहीं, वे तो म्लेच्छों के साथ खान-पान करनेवाले, नशाखोर, समुद्र लंघन करनेवाले, थियेटरों में गाना गानेवाले और अभिनय करनेवाले व्यक्ति हैं। एक अर्थ में वे स्वेच्छाचारी बोहेमियन हैं। 'बोस्टन एडवरटाइजर' का यह अंश कई पत्रिकाओं में उद्धृत हुआ। 'डिट्रायट फ्री प्रेस' ने ११ जून १८९४ के अपने अंक में इसे हूबहू छापा। इसके पीछे विरोधियों का अभिप्राय यही था कि जनमानस पर विवेकानन्द के बारे में बनी उच्च धारणा को गिराना। यद्यपि वे ऐसा करने में कुछ समय के लिए आंशिक रूप से सफल भी हुए, पर कुछ व्यक्ति ऐसे थे, जिन्हें स्वामीजी के चरित्र और कार्यों में गहरी आस्था थी और जिसे किसी भी प्रकार डिगाया

नहीं जा सकता था। ऐसे ही एक व्यक्ति ने 'बोस्टन एडवरटाइजर' के उक्त लेख के प्रत्युत्तर में उसी पत्र के १७ मई के अंक में एक पत्र प्रकाशित कराया। उसका आशय था—"जिस व्यक्ति ने उक्त लेख लिखा है, वे हिन्दुओं के किसी भी सम्प्रदाय के प्रतिनिधि नहीं हैं। वे या तो ईसाई हैं अथवा ब्राह्मसमाजी। अतः वे इस हिन्दू संन्यासी के बारे में सही बात कैसे लिख सकते हैं? 'इण्डियन मिरर' और 'अमृत बाजार पत्रिका' हिन्दुओं द्वारा सम्पादित पत्रिका है। और उनमें प्रकाशित लेखों से यह सिद्ध है कि स्वामीजी हिन्दुओं के ही प्रतिनिधि हैं।" 'अमृत बाजार पत्रिका' ने लिखा था, "जो लोग हिन्दुओं के सम्बन्ध में हमेशा यही बात सुनते आ रहे हैं कि वे लोग भूत-प्रेतादि के उपासक हैं, उन्हें सुविख्यात स्वामी विवेकानन्द तथा उनसे भी अधिक वरेण्य उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के उपदेशों से हिन्दू धर्म के यथार्थ स्वरूप की जानकारी प्राप्त होगी।"

एक ओर मजूमदार और दूसरी ओर कट्टरपन्थी ईसाई मिशनरी उन्हें लांछित करने में तुले थे। कट्टरपन्थियों के आक्रोश का प्रमुख कारण था—आर्थिक हानि। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था—"विवेकानन्द की सफलता और उनके प्रचार के फलस्वरूप एक साल में मिशनरियों को प्राप्त होनेवाले दान में दस लाख पौण्ड (प्रायः १½ करोड़ रुपये) की कमी हुई है।" पादरियों में से किसी किसी ने प्रतिज्ञा भी की—"यदि जहन्नुम जाना पड़े, तो भी स्वीकार,

पर इस दुष्ट विवेकानन्द का सर्वनाश करना ही पड़ेगा ।"

इधर ईसाई मिशनरी तो उनके सर्वनाश पर तुले हुए थे और उधर मजूमदार यह सिद्ध करने पर कि वे संन्यासी के बाने में धूर्त, जालसाज और फरेबी हैं । यद्यपि भारतीय पत्रों ने, विशेषकर कलकत्ते के समाचार-पत्रों ने, उनकी प्रशंसा की थी, पर यह व्यक्तिविशेषों के द्वारा थी। हिन्दू समाज ने संगठित होकर अभी तक उनके कार्यों का अनुमोदन नहीं किया था और न ही उन्हें अपने प्रतिनिधि के रूप में मान्यता दी थी । इसका कारण यह नहीं कि स्वामीजी के कार्यों के प्रति उनकी अनास्था हो, वरन् यह कि सैकड़ों वर्षों की गुलामी ने उन्हें इस प्रकार से संघ-बद्ध हो कार्य करने की प्रेरणा ही नहीं दी थी । फिर, भारत के समाचार-पत्रों में व्यक्त उनके प्रति गुणानुवाद केवल भारत तक ही सीमित थे, जबकि अमेरिका के कट्टरपन्थी ईसाई मजूमदार और अन्य भारतीय पादरियों द्वारा स्वामीजी के विरुद्ध प्रकाशित की गयी मिथ्या आलो-चनाओं को अमेरिकी पत्रिकाओं में प्रकाशित कर वहाँ के जनमानस को उनके विरुद्ध करने का प्रयास कर रहे थे । स्वामीजी ने अपने बचाव के लिए इन दुष्प्रचारों का कभी प्रतिवाद नहीं किया, किन्तु जब उन्होंने देखा कि विरोधियों का इस प्रकार का सामूहिक आक्रमण उनके अमेरिका आने के उद्देश्य को ही विफल कर दे सकता है, तो उन्होंने आलासिंगा को सुझाव देते हुए ९ अप्रैल १८९४ के पत्र में लिखा, "...यदि तुम कर सको, तो एक काम करना

है। क्या तुम मद्रास में, रामनाड़ या अन्य किसी बड़े आदमी की अध्यक्षता में एक ऐसी सभा आयोजित कर सकते हो, जिसमें मेरे यहाँ हिन्दूधर्म का प्रतिनिधित्व करने के प्रति पूर्णतया समर्थन एवं सन्तोष प्रकट किया जाय ? और फिर क्या उस पारित प्रस्ताव को यहाँ के 'शिकागो हेरल्ड', 'इन्टर ओशन' तथा 'न्यूयार्क सन' और डिट्रायट (मिशिगन) के 'कर्माशियल एडवरटाइजर' को भिजवा दे सकते हो ?... उसकी प्रतियाँ डा० बैरोज, चेयरमैन, धर्ममहासभा को भी शिकागो के पते पर भिजवाना।...

"इस सभा को जितनी बड़ी बना सकते हो, बनाओ। धर्म एवं देश के नाम पर सभी बड़े आदमियों को उसमें भाग लेने के लिए पकड़ो। मैसूर के महाराजा तथा दीवान से इस सभा और इसके उद्देश्यों का समर्थन करनेवाला पत्र प्राप्त करने की चेष्टा करो। ऐसा ही पत्र खेतड़ी से भी प्राप्त करो। मतलब यह कि जितनी बड़ी सभा कर सको और उसका शोर उठा सको, उतना ही अच्छा।

"प्रस्ताव कुछ इस प्रकार के आशय का होगा कि मद्रास की हिन्दू जनता मेरे यहाँ (अमेरिका) के कार्यों के प्रति अपना पूर्ण सन्तोष व्यक्त करती है, आदि।

"यदि सम्भव हो तो यह सब करो। कोई बहुत ज्यादा काम नहीं है। उसके अतिरिक्त देश के सभी भागों से समर्थन-पत्र प्राप्त करो और उनकी प्रतिलिपि अमेरिका के पत्रों को भेज दो। इसमें जितनी शीघ्रता हो, उतना

ही ठीक । इसका वहुत व्यापक परिणाम होगा, मेरे भाई । ब्राह्मसमाज के लोग यहाँ मेरे विरुद्ध हर तरह की बकवास कर रहे हैं । हमें जितना शीघ्र हो सके, उनका मुँह बन्द करना होगा । . . ."

## कुम्भ मेले के लिए अपील

आपको विदित ही है कि विख्यात पूर्ण कुम्भ का मेला प्रयाग में, त्रिवेणीके तट पर, ५ जनवरी से ५ फरवरी १९७७ तक होने जा रहा है । भारतवर्ष के सभी भागों से तीर्थयात्री और संन्यासी इस मेले में आएँगे । सदैव की तरह इस बार भी रामकृष्ण मिशन की ओर से मेले में उनकी देखभाल, प्राथमिक चिकित्सा और निःशुल्क डाक्टरी सहायता के लिए एक कैम्प लगाया जायगा । इस काम के लिए योग्य डाक्टरों, कम्पाउन्डरों और स्वयं सेवकों की आवश्यकता होगी । फिर, लगभग चार सौ तीर्थयात्रियों के लिए रहने का प्रबंध भी कैम्प में रहेगा । अनुमान है कि इन सब कार्यों पर लगभग एक लाख रुपय का व्यय आएगा । राम-कृष्ण मिशन इस पुनीत कार्य में आप सभी के उदार आर्थिक सह-योग की प्रार्थना करता है । कोई भी सहायता, नकद राशि अथवा वस्तु के रूप में, कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार की जायगी । आप अपनी सहायता निम्नलिखित किसी भी पते पर भेज सकते हैं——

(१) सचिव, रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद
(२) महासचिव, रामकृष्ण मिशन, पो आ. बेलुड़ मठ (हावड़ा)

कृपया चेक या ड्राफ्ट **'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम इलाहाबाद'** के नाम से काटें तथा रजिस्टर्ड डाक से ही भेजें ।

नोट :– अतिरिक्त जानकारी 'सचिव, रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम इलाहाबाद–२११००३' से प्राप्त की जा सकती है ।

# युद्ध की धार्मिता

**(गीताध्याय २, श्लोक ३१)**

*स्वामी आत्मानन्द*

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

पिछली बार ३१वें श्लोक पर विचार करते हुए हमने कहा था कि युद्ध को भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के लिए 'धर्म्य' मानते हैं, क्योंकि वह उन पर कौरवों द्वारा अधर्मपूर्वक थोपा गया है। क्षत्रिय होने के नाते अर्जुन को ऐसे धर्मयुद्ध का स्वागत करना चाहिए था। परन्तु मोह से विभ्रमित होने के कारण वह युद्ध करने से हिचक रहा है। श्रीकृष्ण उसकी इस हिचक को दूर करने के लिए युद्ध के लिए 'धर्म्य' विशेषण लगाते हैं। ३१वें श्लोक में तो वे कहते ही हैं कि 'धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए कल्याणकर और कुछ नहीं है,' फिर ३३वें श्लोक में भी कहते हैं––'यदि तुम यह धर्मयुद्ध नहीं करोगे,' आदि।

आजकल कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो पाण्डवों के इस युद्ध को 'धर्मयुद्ध' नहीं मानते। वे उनके पक्ष को अन्याय-पूर्ण मानते हैं और अपनी पुष्टि में ऐसी दलीलें देते हैं, जिन्हें पढ़कर उनकी बुद्धि पर तरस आता है। आजकल हिन्दू धर्म और संस्कृति का उपहास करना एक फैशन सा हो गया है। कुछ पत्रिकाओं ने इस बात का ठेका-सा ही ले लिया है, और वे आये-दिन ऐसे लेख प्रकाशित करते रहते हैं, जिनको पढ़कर सामान्य जनों की बुद्धि भ्रमित हो जाय और उनका विश्वास भारत के कालजयी महा-पुरुषों से उठ जाय। ये पत्रिकाएँ चरित्र-हनन में विश्वास

रखती हैं । ऐसी ही एक पत्रिका में मैंने एक लेख पढ़ा था, जिसमें कहा गया था कि पाण्डवों का पक्ष अन्याय और अधर्म का था । उन्हें राजगद्दी पर कोई अधिकार नहीं था । अपनी पुष्टि में उस लेख में जो युक्तियाँ दी गयी थीं, वे वड़ी बचकानी थीं । यह भी प्रकट था कि लेखक विचारशक्ति से शून्य है, उसका 'महाभारत' सम्बन्धी ज्ञान थोथा है और उसकी बुद्धि विद्वेष एवं पूर्वग्रह से भरी है । हम यहाँ 'महाभारत' से ही उद्धरण देकर यह प्रमाणित करेंगे कि वास्तव में पाण्डव ही राज्य के अधिकारी थे, कौरव नहीं और इसीलिए पाण्डवों के लिए महाभारत का युद्ध धर्मयुद्ध था । इस सन्दर्भ में एकमात्र 'महाभारत' ग्रन्थ ही प्रमाणस्वरूप है । अन्य जितनी भी गाथाएँ पाण्डवों और कौरवों की लिखी गयी हैं, वे 'महाभारत' से ही अपना पोषण प्राप्त करती हैं । अतः इस विवाद के निर्णय में कि पाण्डवों का युद्ध धर्मयुद्ध था या नहीं, हमें 'महाभार.' से ही प्रमाण लेने पड़ेंगे ।

हमें आदिपर्व में स्थान स्थान पर पाण्डु के लिए 'हस्तिनापुराधीश' लिखा मिलता है । वहाँ (११२/३५) उनके लिए कहा गया है—'राजा नागपुराधिपः' । फिर, यह भी लिखा है (१०८/२५) कि धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर इन तीनों में से पाण्डु को ही क्यों राज्यपद प्रदान किया गया—

धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद् राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
पारशवत्वाद् विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह ॥

--'धृतराष्ट्र अन्धे होने के कारण और विदुरजी पारशव (शूद्रा के गर्भ से ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न) होने से राज्य न पा सके, अतः सबसे छोटे पाण्डु ही राजा हुए।'

पाण्डु की मृत्यु के बाद धृतराष्ट्र भी न्यायसम्मत रूप से युधिष्ठिर को ही राज्य का उत्तराधिकारी मानते हैं। आदिपर्व के ११४वें अध्याय में (२९-३२) हमें प्राप्त होता है--

वाताश्च प्रववुश्चापि दिग्दाहश्चाभवत् तदा।
ततस्तु भीतवद् राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम्॥
समानीय बहून् विप्रान् भीष्मं विदुरमेव च।
अन्यांश्च सुहृदो राजन् कुरून् सर्वांस्तथैव च॥
युधिष्ठिरो राजपुत्रो ज्येष्ठो नः कुलवर्धनः।
प्राप्तः स्वगुणतो राज्यं न तस्मिन् वाच्यमस्ति नः॥
अयं त्वनन्तरस्तस्मादपि राजा भविष्यति।
एतद् विब्रूत मे तथ्यं यदत्र भविता ध्रुवम्॥

--'(दुर्योधन के जन्म के समय) बड़े जोर की आँधी चलने लगी। सम्पूर्ण दिशाओं में दाह-सा होने लगा। राजन्! तब राजा धृतराष्ट्र भयभीत-से हो उठे और बहुत से ब्राह्मणों को, भीष्मजी और विदुरजी को, दूसरे दूसरे सुहृदों तथा समस्त कुरुवंशियों को अपने समीप बुल-वाकर उनसे इस प्रकार बोले--"आदरणीय गुरुजनो! हमारे कुल की कीर्ति बढ़ानेवाले राजकुमार युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ हैं। वे अपने गुणों से राज्य को पाने के अधिकारी हो चुके हैं। उनके विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। किन्तु उनके बाद मेरा यह पुत्र ही ज्येष्ठ है।

क्या यह भी राजा बन सकेगा ? इस बात पर विचार करके आप लोग ठीक ठीक बताएँ । जो बातअवश्य होने-वाली है, उसे स्पष्ट कहें ।"

इससे स्पष्ट है कि धृतराष्ट्र किस ढंग से सोचते हैं । यद्यपि वे वैधानिक तौर पर युधिष्ठिर को ही राज्य पाने का अधिकारी मानते हैं, तथापि पुत्रासक्ति के पाश मं पड़ वे अधर्म करने हेतु प्रवृत्त हो जाते हैं। उन्होंने अमात्यों और प्रजाजनों की भावना का विचार कर युधिष्ठिर को युवराज-पद पर अभिषिक्त तो कर दिया, पर वे अन्दर ही अन्दर दुर्योधन के षड़यंत्र में सहयोगी बनते हैं और उसकी सलाह के अनुसार पाण्डवों को हस्तिनापुर से हटा वारणावत भेजने में सफल होते हैं। युधिष्ठिर का युवराज-पद पर अभिषेक ही प.ण्डवों के राज्याधिकार को सूचित करता है (आदिपर्व, १३८/१)--

ततः संवत्सरस्यान्ते यौवराज्याय पार्थिव ।
स्थापितो धृतराष्ट्रेण पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।।

—'तदनन्तर . . . धृतराष्ट्र ने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिया ।'

'महाभारत' से हमें यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार सर्वसाधारण जनता भी युधिष्ठिर को ही राज्य-प्राप्ति का अधिकारी मानती है। वहाँ आदिपर्व में ही (१४०/२४-२७) हमें प्राप्त होता है—

राज्यप्राप्तिं च सम्प्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तदा ।
कथयन्ति स्म सम्भूय चत्वरेषु सभासु च ।।

प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
राज्यं न प्राप्तवान् पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥
तथा शान्तनवो भीष्मः सत्यसन्धो महाव्रतः।
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं न स जातु ग्रहीष्यति ॥
ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तरुणं वृद्धशीलिनम्।
अभिषिञ्चाम साध्वद्य सत्यकारुण्यवेदिनम् ॥

—'वे (जनसाधारण) जहाँ कहीं चौराहों पर और सभाओं में इकट्ठे होते, वहीं पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को राज्य प्राप्ति के योग्य बताते थे। वे कहते, "प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्र नेत्रहीन होने के कारण जब पहले ही राज्य न पा सके, तब (अब) वे कैसे राजा हो सकते हैं ? महान् व्रत का पालन करनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्म तो सत्यप्रतिज्ञ हैं। वे पहले ही राज्य ठुकरा चुके हैं, अतः अब उसे कदापि ग्रहण न करेंगे। पाण्डवों के बड़े भाई युधिष्ठिर यद्यपि अभी तरुण हैं, तो भी उनका शील-स्वभाव वृद्धों के समान हैं। वे सत्यवादी, दयालु और वेदवेत्ता हैं। अतः अब हम लोग उन्हीं का विधिपूर्वक राज्याभिषेक करें।" '

दुर्योधन प्रजाजनों के बीच चलनेवाली ऐसी बातचीत को सुन कुढ़ता रहता और वह अपना सारा आक्रोश अपने पिता पर प्रकट करता। वह धृतराष्ट्र को पाण्डवों के विरुद्ध सतत उकसाता रहता और यह समझाता रहता कि यदि हमने छल-बल से पाण्डवों को दूर नहीं किया, तो जीवन भर हम लांछना का जीवन बिताते रहेंगे। वह

कहता है (१४०/३४)—

पितृतः प्राप्तवान् राज्यं पाण्डुरात्मगुणैः पुरा ।
त्वमन्धगुणसंयोगात् प्राप्तं राज्यं न लब्धवान् ॥

—'पाण्डु ने अपने सद्गुणों के कारण पिता से राज्य प्राप्त कर लिया और आप अन्धे होने के कारण अधिकार-प्राप्त राज्य को भी नहीं पा सके ।' दुर्योधन की कुटिलता यहाँ पर दर्शनीय है । वह अपने पिता के अन्धेपन का इस प्रकार उल्लेख करता है, मानो उसके लिए धृतराष्ट्र ही दोषी हो । यह धृतराष्ट्र को चिढ़ाने की, उनकी कुण्ठा को भड़काने की चाल है । पाण्डवों के राज्य पाने पर कौरवों की जो दुर्दशा होगी, उसका भयावह चित्रण अपने पिता के मानस पर अंकित करते हुए दुर्योधन आगे कहता है (१४०/३५-३७)—

स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः ।
तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्यापि चापरः ॥
ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि ।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥
सततं निरयं प्राप्ताः परपिण्डोपजीविनः ।
न भवेम यथा राजंस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥

—'यदि ये पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पाण्डु के राज्य को, जिसका उत्तराधिकारी पुत्र ही होता है, प्राप्त कर लेते हैं, तो निश्चय ही उनके बाद उनका पुत्र ही इस राज्य का अधिकारी होगा और उसके बाद पुनः उसी की पुत्र-परम्परा में दूसरे दूसरे लोग इसके अधिकारी होते जायँगे । महाराज!

ऐसी दशा में हम लोग अपने पुत्रों सहित राजपरम्परा से वंचित होने के कारण सब लोगों की अवहेलना के पात्र बन जायंगे। राजन्! आप कोई ऐसी नीति काम में लाइए, जिससे हमें दूसरों के दिये हुए अन्न से गुजारा करके सदा नरकतुल्य कष्ट न भोगना पड़े।'

यह कहकर दुर्योधन अपने पिता को इस बात के लिए राजी करने की चेष्टा करता है कि कुछ समय के लिए पाण्डवों को किसी भी प्रकार हस्तिनापुर से दूर रखा जाय, जिससे राज्यसूत्र उसके हाथों में आ जाय। वह कहता है (१४१/१५)--

यदा प्रतिष्ठितं राज्यं मयि राजन् भविष्यति।
तदा कुन्ती सहापत्या पुनरेष्यति भारत॥

--'भरतवंश के महाराज! जब यह राज्य पूरी तरह से मेरे अधिकार में आ जायगा, उस समय कुन्तीदेवी अपने पुत्रों के साथ पुनः यहाँ आकर रह सकती हैं।'

कैसा छल है! और धृतराष्ट्र पूरी तरह से इस छल का अनुमोदन कर अपनी मानसिकता को प्रकट कर बैठते हैं। कहते हैं (१४१/१६)--

दुर्योधन ममाप्येतद्धृदि सम्परिवर्तते।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम्॥

--'दुर्योधन! मेरे हृदय में भी यही बात घूम रही है, किन्तु हम लोगों का यह अभिप्राय पापपूर्ण है, इसलिए मैं इसे खोलकर कह नहीं पाता।'

पर दुर्भाग्य यह है कि दुर्योधन की सलाह को पापपूर्ण

मानते हुए भी धृतराष्ट्र उसे कार्यान्वित करने के लिए तैयार हो जाते हैं। वे बाहरी आँखों से तो अन्धे हैं ही, पुत्रमोह उनकी भीतरी आँखों को भी अन्धा कर देता है। वे विवेक खो बैठते हैं और वही करते हैं, जो दुर्योधन चाहता है।

फिर यह कथा सर्वविदित है कि कैसे पाण्डवों को वारणावत भेजकर, लाक्षागृह में उनके निवास की व्यवस्था कर, लाक्षागृह को दुर्योधन ने पुरोचन के द्वारा जलवा दिया, कैसे पाण्डव अपनी माता कुन्ती के साथ विदुरजी के मार्गदर्शन में बच निकले, सभी ने कैसे उन सबको मृत्यु को प्राप्त जान लिया तथा कैसे दुर्योधन हस्तिनापुर की गद्दी को हथिया बैठा। पाण्डव पुनः प्रकट होते हैं द्रौपदी को प्राप्त करने के बाद। पर अब दुर्योधन उन्हें राज्य नहीं देना चाहता। भीष्म पितामह उसे समझाते हैं कि देखो, वैसे तो राज्य पर न्यायोचित अधिकार पाण्डवों का ही है, पर तुमने इसे अधर्मपूर्वक छीन लिया है। अतः कम से कम उन्हें आधा राज्य ही दे दो। वे समझौते की वाणी में कहते हैं (२०२/५-८)--

दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि।
मम पैतृकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः॥
यदि राज्यं न ते प्राप्ताः पाण्डवेया यशस्विनः।
कुत एव तवापीदं भारतस्यापि कस्यचित्॥
अधर्मेण च राज्यं त्व प्राप्तवान् भरतर्षभ।
तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः॥
मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्धं प्रदीयताम्।

एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च ।।

—'तात दुर्योधन ! जैसे तुम इस राज्य को अपनी पैतृक सम्पत्ति के रूप में देखते हो, उसी प्रकार पाण्डव भी देखते हैं। यदि यशस्वी पाण्डव इस राज्य को नहीं पा सकते, तो तुम्हें अथवा भरतवंश के किसी अन्य पुरुष को भी वह कैसे प्राप्त हो सकता है ? भरतश्रेष्ठ ! तुमने अधर्मपूर्वक इस राज्य को हथिया लिया है, परन्तु मेरा विचार यह है कि तुमसे पहले ही वे भी इस राज्य को पा चुके थे। अतः पुरुषसिंह ! प्रेमपूर्वक ही उन्हें आधा राज्य दे दो। इसी में सब लोगों का हित है।'

भीष्म पितामह आगे कहते हैं (२०२/१३-१९)—

दिष्टया ध्रियन्ते पार्था हि दिष्टया जीवति सा पृथा ।
दिष्टया पुरोचनः पापो न सकामोऽत्ययं गतः ।।
यदा प्रभृति दग्धास्ते कुन्तिभोजसुतासुताः ।
तदा प्रभृति गान्धारे न शक्नोम्यभिवीक्षितुम् ।।
लोके प्राणभृतां कंचिच्छ्रुत्वा कुन्तीं तथागताम् ।
न चापि दोषेण तथा लोको मन्येत् पुरोचनम् ।
यथा त्वां पुरुषव्याघ्र लोको दोषेण गच्छति ।।
तदिदं जीवितं तेषां तव किल्बिषनाशनम् ।
सम्मन्तव्य महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ।।
न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन ।
पित्र्योंऽशः शक्य आदातुमपि वज्रभृता स्वयम् ।।
ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः ।
अधर्मेण निरस्ताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ।।

यदि धर्मस्त्वया: कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे ।
क्षेमं च यदि कर्तव्यं तेषामर्धं प्रदीयताम् ।।

——'सौभाग्य की बात है कि कुन्ती के पुत्र जीवित हैं; यह भी सौभाग्य की ही बात है कि कुन्ती भी मरी नहीं है और सबसे बडे सौभाग्य का विषय यह है कि पापी पुरोचन अपने (बुरे) इरादे में सफल न होकर स्वयं नष्ट हो गया । गान्धारीकुमार ! जब से मैंने सुना है कि कुन्ती के पुत्र लाक्षागृह की आग में जल गये तथा कुन्ती भी उसी अवस्था को प्राप्त हुई है, तभी से मैं (लज्जा के मारे) जगत् के किसी भी प्राणी की ओर आँख उठाकर देख नहीं सकता था । नरश्रेष्ठ ! लोग इस कार्य के लिए पुरोचन को उतना दोषी नहीं मानते, जितना तुम्हें दोषी समझते हैं। अत: महाराज ! पाण्डवों का यह जीवित रहना और उनका दर्शन होना वास्तव में तुम्हारे ऊपर लगे हुए कलंक का नाश करनेवाला है, ऐसा मानना चाहिए । कुरुनन्दन ! पाण्डव वीरों के जीते-जी उनका पैतृक अंश साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी नहीं ले सकते । वे सब धर्म में स्थित हैं; उन सबका एकचित्त–एकविचार है। इस राज्य पर तुम्हारा और उनका समान स्वत्व है, तो भी उनके साथ विशेष अधर्मपूर्ण वर्ताव करके उन्हें यहाँ से हटाया गया है । यदि तुम्हें धर्म के अनुकूल चलना है, यदि मेरा प्रिय करना है और यदि भलाई करनी है, तो उन्हें आधा राज्य दे दो ।'

आचार्य द्रोण भी भीष्म पितामह का समर्थन करते हुए धृतराष्ट्र से कहते हैं (२०३/२)——

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः ।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः ॥

——'तात ! मेरी भी वही सम्मति है, जो महात्मा भीष्म की है कुन्ती के पुत्रों को आधा राज्य बाँट देना चाहिए, यही परम्परा से चला आनेवाला धर्म है ।'

कर्ण भीष्म पितामह और आचार्य द्रोण की सलाह का विरोध करता है । पर हम 'महाभारत' में पढ़ते हैं कि कैसे विदुरजी भी धृतराष्ट्र को समझाते हैं और अन्त में उन्हें पाण्डवों को आधा राज्य देने के लिए राजी कर लेते हैं । पाण्डव आधा राज्य पाते हैं, वे इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी का निर्माण करते हैं । दुर्योधन, शकुनि की सहायता से, युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र के माध्यम से द्यूत-क्रीड़ा के लिए आमंत्रित कर उन्हें छलपूर्वक हरा देता है, पाँचों पाण्डवों और उनके राज्य को दाँव में जीत लेता है और द्रौपदी का भरी सभा में अपमान करता है । अन्त में अपने पुत्रों के कुकृत्यों से ग्लानि को प्राप्त हुए राजा धृतराष्ट्र बीच-बचाव करके पाण्डवों को उनका राज्य वापस कर देते हैं । पाण्डवगण अपनी राजधानी इन्द्रप्रस्थ की ओर रवाना होते हैं । इधर दुर्योधन और अन्य कौरव पाण्डवों की एवंविध मुक्ति से दुःखी होते हैं तथा अपने पिता को भला-बुरा कहते हैं । वे धृतराष्ट्र के समक्ष पाण्डवों की बलवृद्धि का भयावह चित्रण करते हैं और उन्हें एक बार फिर से इसके लिए राजी कर लेते हैं कि वे दूसरी बार पाण्डवों को जूए

का निमंत्रण दें। धृतराष्ट्र पुत्रमोहवश हो प्रातिकामी को पाण्डवों को वापस बुला लेने हेतु भेजते हैं। प्रातिकामी इन्द्रप्रस्थ की ओर जाते हुए पाण्डवों को रास्ते में ही पकड़कर राजा धृतराष्ट्र का सन्देश देते हुए युधिष्ठिर से कहता है (सभापर्व, ७६/२)--

उपास्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाऽऽहेति भारत॥

--'भरतकुलभूषण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर! आपके पिता राजा धृतराष्ट्र ने यह आदेश दिया है कि तुम लौट आओ। हमारी सभा फिर सदस्यों से भर गयो है और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम पासे फेंककर जूआ खेलो।'

युधिष्ठिर इस आदेश को अवहेलना नहीं कर पाते और वे भाइयों के साथ पुनः लौट पड़ते हैं। शकुनि राजा धृतराष्ट्र की स्वीकृति प्राप्त कर द्वितीय द्यूत-क्रीड़ा की शर्त रखते हुए युधिष्ठिर से कहता है (सभापर्व, ७६/१०-१४)--

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः॥
त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश॥
अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान्।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः।
त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश॥
त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम्।

स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरै. ।।

—'यदि आपने हम लोगों को जूए में हरा दिया, तो हम मृगचर्म धारण करके महान् वन में प्रवेश करेंगे और बारह वर्ष वहाँ रहेंगे एवं तेरहवाँ वर्ष हम जनसमूह में लोगों से अज्ञात रहकर पूरा करेंगे और यदि हम तेरहवें वर्ष में लोगों की जानकारी में आ जायँ, तो फिर दुबारा बारह वर्ष वन में रहेंगे। यदि हम जीत गये, तो आप लोग द्रौपदी के साथ बारह वर्षों तक मृगचर्म धारण करते हुए वन में रहें। आपको भी तेरहवाँ वर्ष जनसमूह में लोगो से अज्ञात रहकर व्यतीत करना पड़ेगा और यदि ज्ञात हो गये, तो फिर दुबारा बारह वर्ष वन में रहना होगा। तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होने पर हम या आप फिर वन से आकर यथोचित रीति से अपना अपना राज्य प्राप्त कर सकते हैं।'

युधिष्ठिर इस जूए में भी हार जाते हैं और भाइयों एवं द्रौपदी सहित शर्त का निर्वाह करने हेतु वनवासी होकर राज्य छोड़ निकल जाते हैं। तेरह वर्ष उपरान्त जब पाण्डव शर्त के अनुसार अपना राज्य वापस चाहते हैं, तो दुर्योधन साफ इनकार कर जाता है। युधिष्ठिर तो पाँच गाँव पाकर ही सन्तोष कर लेने की बात भगवान् कृष्ण से कहते हैं और वे श्रीकृष्ण से अपना सन्देशा दुर्योधन तक पहुँचाने का अनुरोध करते हैं। भगवान् कृष्ण मध्यस्थ बन कर, सन्धि का प्रस्ताव ले दुर्योधन के पास जाते हैं। पर दुर्योधन उनकी बात सुनने के लिए तैयार ही नहीं होता। वह उद्धत स्वर में कहता है (उद्योगपर्व, १२७/२३-२५)—

अप्रदेय पुरा दत्तं राज्यं परवतो मम ।
अज्ञानाद् वा भयाद् वापि मयि वाले जनार्दन ।
न तदद्य पुनर्लभ्यं पाण्डवैर्वृष्णिनन्दन ।
ध्रियमाणे महावाहो मयि सम्प्रति केशव ।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ।।

—'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! पहले भी जो पाण्डवों को का अंश दिया था, वह उन्हें देना उचित नही था; परन्तु मैं उन दिनों बालक एवं पराधीन था, अतः अज्ञान अथ भय से जो कुछ उन्हें दे दिया गया था, उसे अव पा" पुनः नहीं पा सकते । केशव ! इस समय मुझ महा दुर्योधन के जीते-जी पाण्डवों को भूमि का उतना अंश नहीं दिया जा सकता, जितना कि एक बारीक सूई नोक से छिद सकता है ।'

दुर्योधन को भीष्म पितामह, आचार्य द्रोण, विदुर एवं धृतराष्ट्र सभी समझाते हैं। गान्धारी भी उसे समझात हुए कहती हैं (उद्योगपर्व, १२९/४३)——

प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम ।
यदीच्छसि सहामात्यो भोक्तुमर्धं प्रदीयताम् ।।

——'शत्रुओं का दमन करनेवाले पुत्र ! यदि तुम अपने मंत्रियों सहित राज्य भोगना चाहते हो, तो पाण्डवों को उनका यथोचित भाग——आधा राज्य दे दो ।'

पर दुर्योधन के सिर पर तो मृत्यु चढ़कर बोल रही थी, उसने सभी की बात अनसुनी कर दी । अतः पाण्डवों

के लिए युद्ध के अतिरिक्त अपना न्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त करने का अन्य कोई चारा नहीं रह गया। फिर, दुर्योधन और दुःशासन आदि के द्वारा समाज में जिस अधर्म की बेलें सींची जा रही थीं, उसका प्रतिकार और नाश भी आवश्यक था। इसीलिए भगवान् कृष्ण युद्ध के लिए पाण्डवों को उत्साहित करते हैं। और जब युद्ध की सारी तैयारियाँ पूर्ण हो चुकीं, शंख और बिगुल फूँककर युद्ध-प्रारम्भ का संकेत दिया जा चुका, तो अर्जुन कहता है—'मैं नहीं लड़ूँगा!' भगवान् श्रीकृष्ण उसे समझाते हुए कहते हैं कि अर्जुन, तेरा पक्ष धर्म का है, यह युद्ध तेरे लिए धर्म्य स्वधर्म है, अतः विचलन का त्याग कर और शस्त्र उठा; इससे बढ़कर कल्याण-प्राप्ति का रास्ता क्षत्रियों के लिए और दूसरा नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म और न्याय पाण्डवों के पक्ष में है। इसे भीष्म और द्रोण ही नहीं, बल्कि धृत-राष्ट्र और गान्धारी भी स्वीकार करते हैं। ये सभी मिल-कर दुर्योधन को पाण्डवों को आधा राज्य वापस कर उनसे सुलह की सलाह देते हैं, पर ढीठ दुर्योधन किसी की बात नहीं मानता। वह तो युद्ध ही चाहता है। पाण्डव जब बारह वर्ष वनवासी थे, तब भी वह सतत यही प्रयास करता रहा कि जैसे बने वैसे उनका खात्मा कर दिया जाय। पर उसकी चाल सफल नहीं हो पाती। भगवान् कृष्ण अर्जुन को इन्हीं सब बातों का ख्याल दिलाकर समझाते हैं कि ऐसा अपने आप आया युद्ध तो क्षत्रियों के लिए महान् कल्याणकारक होता है; अर्जुन, ऐसे धर्मयुद्ध को छोड़ो मत।

# सान्त्वना

*स्वामी रामकृष्णानन्द*

(प्रस्तुत लेख श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा प्रकाशित पुस्तिका CONSOLATIONS का अनुवाद है। इसमें श्रीरामकृष्ण देव के उन अन्यतम संन्यासी-शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्दजी के प्रेरक पत्रांशों का संग्रह है, जिनके सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "शशि मठ का मुख्य आधारस्तम्भ था। उसके बिना मठ में जीवन असम्भव होता। वह मठ की माता था।" मूल पुस्तिका की भूमिका श्रीरामकृष्णदेव के दूसरे संन्यासी-शिष्य स्वामी शिवानन्द जी ने लिखी है। उसकी उपादेयता देखकर हम उसे भी यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक-कार्य रामकृष्ण संघ के ब्रह्मचारी दुर्गेशचैतन्य ने किया है। --सं.)

## भूमिका

शशि महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) प्रेम और पवित्रता की सच्ची मूर्ति थे। शरीर और मन की ऐसी पवित्रता मैंने अभी तक नहीं देखी। अपने आदर्श और जीवन-लक्ष्य श्रीरामकृष्ण के प्रति उनकी भक्ति और प्रेम असीम था। उनकी तुलना श्री हनुमानजी की भगवान् राम के प्रति भक्ति और प्रेम से ही की जा सकती है। स्वामी विवेकानन्द, ब्रह्मानन्द तथा अपने अन्य गुरु-भाइयों जिन्हें वे श्रीरामकृष्ण का ही अंग समझते थे, के प्रति उनका स्नेह-प्रेम पूजा की ही परिधि में आता था। ऊँच-नीच, धनी-निर्धन के बीच उनके मन में कोई भेद नहीं था। उनके मन में सभी के कल्याण की उत्कण्ठा थी। वे खुले हाथों सबका स्वागत करते तथा उनके पास जो भी होता सब उन्हें दे देते। प्रत्येक प्राणी में गुरुदेव की पूजा

करना तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके दिव्यत्व की अनुभूति करने में सहायता देना ही उनका कर्तव्य था और इस कर्तव्य की बलिवेदी पर उन्होंने स्वयं को आहुति दे दी। वे दूसरों से जो करवाना चाहते, स्वयं उसका बड़ी सतर्कता से पालन करते। वे इस धराधाम में श्रीरामकृष्ण के लिए आये थे तथा उन्होंने मन-प्राण पूर्वक उनकी सेवा की तथा उनके ही पास लौट गये। स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें 'स्वामी रामकृष्णानन्द' नाम ठीक ही दिया था।

उनके पत्र अवश्य ही अति आकर्षक और सान्त्वना देनेवाले हैं। वे श्री गुरुमहाराज के अनन्यतम ही नहीं, सबसे अधिक निष्ठावान भक्त थे। श्री गुरुमहाराज से भिन्न और कुछ भी उनके मन में नहीं था। वे उन्हीं से परिपूर्ण थे। जो भी थोड़ी सावधानी और एकाग्रता से उनके पत्रों को पढ़ेगा, उस पर उनका गहरा प्रभाव अवश्य पड़ेगा। उनका जीवन, प्रभाव तथा सम्पूर्ण हृदय से दक्षिण भारत में किया गया उनका कार्य वह नींव है, जिस पर आज सभी लोग कार्यों का निर्माण कर रहे हैं। दिनोंदिन लोग उनका महत्त्व अधिकाधिक समझेंगे। इस लघु पुस्तिका के प्रति मेरा आशीर्वाद और शुभकामनाएँ हैं। यह उन सभी को सान्त्वना दे, जिनके पास इसकी प्रति है।

शिवानन्द

## सान्त्वना

तुम चाहते हो कि संसार की उलझनों से कैसे छूटा जाय इसका उपाय मैं तुम्हें बताऊँ। इसके उत्तर में मैं

तुम्हें यह याद दिला दूँ कि जो उलझनें हजारों जन्मों द्वारा लायी गयी हैं, उन्हें एक दिन में दूर नहीं किया जा-सकता।

हाँ, तुम ठीक कहते हो। हमें इसी क्षण से संसार के जाल से बचना चाहिए, क्योंकि कौन जानता है मृत्यु कब हमें हमारे स्वजनों के स्नेहपूर्ण आलिंगन से विलग कर देगी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम अपने जीवनक्रम के सम्बन्ध में कोई आकस्मिक निर्णय कर लें। जिस प्रकार बालक सदैव सहायता के लिए अपने माता-पिता की ओर ही जाता है, उसी प्रकार सदैव अपने मन को प्रभु की ओर ही मोड़ना तथा जिस भी परिस्थिति में श्रीकृष्ण ने तुम्हें रखा है, उसी में सन्तुष्ट रहना—यह सफलता का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

ईश्वर तुम्हें जहाँ रखना चाहते हैं, वहीं शान्तिपूर्वक रहो। श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों को पढ़ो और उन पर विचार करो। वे कहते हैं, "पौधे के चारों ओर बाड़ लगा रखनी चाहिए, जिससे बकरियाँ उसे खा न जायँ। पर वही पौधा जब बड़ा वृक्ष हो जाता है, तब सैकड़ों बकरियाँ उसकी छाया में आश्रय ले सकती हैं।" अतः, सौभाग्य से जब किसी के हृदय में विश्वास और त्याग के भाव जागें, तो उन भावों को अध्यवसायपूर्वक, संसारी लोगों से अलग रहकर, पुष्ट करना चाहिए। पर जब वे एक बार हमारे हृदय में दृढ़ हो जाते हैं, तब कोई उन्हें हिला नहीं सकता।

अच्छी पुस्तकें पढ़ो। एक पुस्तक मैं तुम्हें सुझाता हूँ -ईशानुकरण (The Imitation of Christ)। यह पुस्तक तुम्हें बड़ी शान्ति देगी। सान्त्वना और सच्ची भक्ति के न शब्दों को अपने हृदय में अंकित कर लो, जो थॉमस म्पिस की इस अमूल्य पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर तुम अवश्य पाओगे। वे स्वयं ईश्वर और ईशु के सच्चे भक्त थे।

पशु और मनुष्य के बीच मुख्य अन्तर यह है कि जब तक पशु को भोजन और आवास की सुविधा मिलती रहती है, वह कभी उस स्थान को बदलना नहीं चाहता, जब कि मनुष्य--सच्चा मनुष्य--सदैव ऊँचे से ऊँचा उठने का प्रयत्न करता है। उच्च आदर्शों के लिए निरन्तर प्रयत्न सच्चे आदमी का लक्षण है। वे सभी लोग जो सत्पुरुष और महान् होना चाहते हैं, उनका मुख्य लक्ष्य होना चाहिए--'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'--सभी धर्मों को छोड़कर मेरी (भगवान् की) शरण ग्रहण कर।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा की ओर जाने का कठिन परिश्रम कर रहा है, किन्तु हमारे रास्ते भिन्न भिन्न हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना मार्ग स्वयं बनाना होगा तथा ईश्वर ने हमें जो साधन दिये हैं, उनके सहारे यात्रा करनी होगी।

हम सबको अपने बन्धनों को तोड़ देना चाहिए, किन्तु तुमने क्या कभी बन्धनों को एक ही आकस्मिक झटके में टूटते देखा है? यदि तुम अपने बन्धनों को काटना चाहते हो, तो उन पर सतत आघात करते रहने

का पर्याप्त धैर्य तुममें होना चाहिए। किसी भी आकस्मिक क्रिया से कभी कोई शुभ परिणाम उत्पन्न नहीं हुआ। जब तुम्हारे मन में त्याग की वृत्ति तीव्रतम होगी, जब अन्य सब वृत्तियाँ तुम्हें संसार-वृक्ष में बाँधने में असमर्थ हो जायँगी, तब तुम उसी प्रकार प्रभु की गोद में पड़ जाओगे, जिस प्रकार पूरी तरह पक जाने पर फल पृथ्वी की गोद में गिर पड़ता है।

तुम जो कहते हो कि संसार प्रबल प्रलोभन का स्थान है, वह वास्तव में सत्य है। किन्तु क्या तुम यह नहीं जानते कि शक्तिशाली विपरीत वायु दुर्बल वृक्षों की जड़ों की शक्ति को ही पुष्ट करती है। शुभ नैतिक सिद्धान्त जो अभी तुम्हारे मन में उतने दृढ़ नहीं हैं, प्रलोभनों से सतत संघर्ष के परिणामस्वरूप निश्चित रूप से गहरी जड़ें जमा लेंगे। नियमित व्यायाम और संघर्ष व्यक्ति के शारीरिक स्वास्थ्य को उन्नत कर देते हैं। हमारा मानसिक स्वास्थ्य भी इस नियम का अपवाद नहीं है। निस्सन्देह यह भूमि बहुत ही फिसलन-भरी है, जिसमें बिना गिरे चलना मनुष्य के लिए बहुत कठिन है। किन्तु जो व्यक्ति प्रगति-पथ की फिसलनों की अधिक चिन्ता न कर दृढ़तापूर्वक बढ़ता जाता है, वह अवश्य ही इस दलदल के पार हो जाता है। जब तक वह ऐसे स्थान पर न पहुँच जाय, जहाँ भूमि साफ और फिसलन से रहित हो और जहाँ वह उस दैवी सत्ता का साक्षात्कार कर ले, जिसके लिए वह इतने दिनों से प्रयत्न कर रहा था, तब तक उसे

गिरते-उठते, किन्तु कभी भी पराजय स्वीकार न कर, सदैव सामने देखते हुए दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ना चाहिए। यदि यदा-कदा तुम फिसल जाओ, तो उसकी चिन्ता न करो। मनुष्य से भूल होना स्वाभाविक है। निराश न होओ। दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ो। संसार के फिसलन-भरे मार्ग को निरापद पार कर जाने की आशा कोई व्यक्ति नहीं कर सकता। पार करने के प्रयत्न में असफल होने के भय से इस दलदल के बीच में बैठ जाना निरी मूर्खता है। 'पुनः पुनः प्रयत्न करो' के स्वर्गिम नियम को न भूलो। स्काटलैण्ड के उस ब्रूस का स्मरण करो, जो छह बार पराजित होकर भी अन्त में सातवीं बार विजयी हुआ।

यह जानकर कि सभी चीजें श्रीकृष्ण से ही निःसृत होती हैं, तुम्हारे पास जो कुछ आये उसी में सन्तुष्ट रहो। उनसे सतत् प्रार्थना करना न भूलो। उनकी कृपा तुम्हें वह सब दे सकती है, जिससे तुम्हारा वास्तविक कल्याण हो। सदैव उनकी कृपा पर निर्भर रहो। शान्त और स्थिर रहो। अस्थिरता अपने आप में एक रोग है। यह जान लो कि धर्म का अर्थ परमपुरुष की इच्छा के प्रति आत्मसमर्पण में प्रेम और सन्तोष का अनुभव करना है।

'हृदय में साहस और ऊपर ईश्वर को रख जीवित वर्तमान में कर्म करो।'

(क्रमशः)

**प्रश्न**--हर वर्ष कोई न कोई महान् आत्मा मोक्ष को प्राप्त होती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि इस मर्त्यलोक में जीवों की संख्या दिनोंदिन कम होती जा रही है और कालान्तर में सभी आत्माएँ मोक्ष को प्राप्त होंगी और आवागमन के चक्कर से छुटकारा पा लेंगी तथा इस लोक में कोई भी शेष नहीं बचेगा। इस पर आप क्या कहते हैं?

**--दुर्गा शरण, भिलाई**

**उत्तर**--यह सही है कि एक न एक दिन सभी मोक्ष को प्राप्त करेंगे, पर यह सब क्रमिक रूप से साधित होता है। जीवन-प्रवाह का विकास जो 'अमीबा' से शुरू होता है, मनुष्य में आकर ही क्रमशः परिपूर्णता को प्राप्त होता है। हम विकास के इस सिद्धान्त को मान्य करते हैं। हमने अपने गीता-प्रवचन में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है कि कैसे जीवनक्रम 'अमीबा' से शुरू होकर, १२८ लाख योनियों में से चलकर, अन्त में मनुष्य-योनि में आता है और इस मानव-योनि में अनेक जन्मों के उपरान्त, अपने में निहित पूर्णता को क्रमशः अभिव्यक्त करता हुआ, किसी एक जन्म में सारे बन्धनों को तोड़कर मुक्त हो जाता है। इसी भाँति प्रत्येक जीवात्मा मुक्त हो जायगा, इसमें संशय नहीं। और इससे यह

अवश्य ध्वनित होता है कि मर्त्यलोक में जीवों की संख्या दिनों दिन कम होनी चाहिए। पर प्रत्यक्ष में उल्टा ही अनुभव में आता है। इसका कारण यह है कि निम्नतर योनियों में से जीवनक्रम धीरे धीरे मनुष्य-योनि में विकसित होता जा रहा है। पूर्वकाल की कुछ योनियाँ एकबारगी समाप्त हो गयी हैं। वनस्पति-जीवन भी पहले जितना प्रचुर था, आज उतना नहीं है। विकास के सिद्धान्त के अनुसार ये समस्त अपने से उच्चतर योनियों में जा रहे हैं।

अब, यदि ऐसा प्रश्न किया जाय कि जीवन की प्रारम्भिक योनि––अमीबा––में इतने असंख्य जीव कहाँ से आ रहे हैं, तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। जैसे हम विश्व-किरण (cosmic rays) का अनुभव तो करते हैं और यह भी जानते हैं कि ये विश्व-किरणें सतत प्रवहमान हैं और हमें यह भी पता है कि सतत पर-माणुओं के विघटन और संघटन से ये किरणें पैदा होती हैं, पर हम यह नहीं जानते कि अन्तरिक्ष में ये परमाणु क्यों विघटित और संघटित होते रहते हैं। इस 'क्यों' का कोई उत्तर न तो विज्ञान के पास अभी है, न अध्यात्म के पास।

अतएव जीव मुक्त भी होते रहेंगे और उनकी संख्या इस मर्त्यलोक में बढ़ती भी रहेगी। यह ऐसी पहेली है, जिसका उत्तर, स्वामी विवेकानन्द की भाषा में, 'वही जाने जो ज्ञाता है!'

**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।**
**तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥**

––हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, परन्तु हे परंतप! उन सबको तू नहीं जानता है, मैं जानता हूँ। (गीता, ४/५)

# विवेकानन्द जयन्ती समारोह-१९७७

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द जी का ११५ वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम के प्रांगण में १२ जनवरी १९७७ से लेकर ६ फरवरी १९७७ तक पृष्ठांकित कार्यक्रम के अनुसार मनाया जा रहा है।

कार्यक्रम सबके लिए खुला है, पर ८ वर्ष से छोटे बच्चों लिए प्रवेश वर्जित है।

## कार्यक्रम

★ बुधवार, १२ जनवरी ★

**स्वामी विवेकानन्द जन्म-तिथि उत्सव**

मंगल आरती, प्रार्थना, ध्यान .. प्रातः ५॥ से ६॥ बजे तक।
भजन, पूजा, हवन एवं आरती .. सुबह ९॥ से १२॥ बजे तक।
सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन .. सायंकाल ६ से ८ बजे तक।

★ गुरुवार, १३ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे।

**अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता**

(रनिंग शील्ड)

*विषय :–"इस सदन की राय में जीवन की परिपूर्णता धन से नहीं, चरित्र से साधित होती है।"*

★ शुक्रवार, १४ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता**

(रनिंग शील्ड)

★ शनिवार, १५ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता**

(रनिंग शील्ड)

*विषय :–"युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द"*

★ रविवार, १६ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**परिसंवाद**

*विषय :–"स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व के बहुविध आयाम"*

**अध्यक्ष :–** श्री जगदीशचन्द्र दीक्षित,

कुलपति, रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर

**वक्ता** :– (१) श्री कनक तिवारी, अधिवक्ता, दुर्ग

*(समाजवादी विवेकानन्द)*

(२) प्राध्यापक शमसुद्दीन

स्नातकोत्तर प्रशिक्षण महाविद्यालय, रायपुर

*(शिक्षाशास्त्री विवेकानन्द)*

(३) डा० नरेन्द्रदेव वर्मा, शासकीय महाविद्यालय, दुर्ग

*(साहित्यकार विवेकानन्द)*

(४) श्रीमती निवेदिता गुप्ता, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर

*(राष्ट्रवादी विवेकानन्द)*

(५) ब्रह्मचारी चिन्मय चैतन्य

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

*(अध्यात्मवादी विवेकानन्द)*

★ सोमवार १७ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता**

(रनिंग शील्ड)

*विषय :–"यदि स्वामी विवेकानन्द मेरे गुरु होते।"*

मंगलवार, १८ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता**

(रनिंग शील्ड)

*विषय :–"इस सदन की राय में विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण का दायित्व अध्यापकों की अपेक्षा अभिभावकों पर अधिक है।"*

बुधवार, १९ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता**

(रनिंग शील्ड)

गुरुवार, २० जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**माध्यमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता**

(प्रथम दो श्रेष्ठ प्रतियोगियों को व्यक्तिगत पुरस्कार)

★ शुक्रवार, २१ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता .**

रनिंग शील्ड)

*विषय :–"इस सदन की राय में आज की युवा पीढ़ी देश की बागडोर सम्हालने में पूरी तरह सक्षम है।"*

★ शनिवार, २२ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता**

(रनिंग शील्ड)

*विषय :–"स्वामी विवेकानन्द से मैं क्या सीख सकता हूँ ?"*

★ रविवार, २३ जनवरी .. सायंकाल ६॥ बजे

## विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्‌घाटन

*विषय:–"रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की विश्व को देन"*

★ २४ जनवरी से २ फरवरी तक .. प्रतिदिन सायंकाल ६॥ ब॰

**रामायण-प्रवचन**

प्रवचनकार : पं० रामकिंकरजी महाराज

(भारत के सुविख्यात रामायणी)

★ ३ फरवरी से ६ फरवरी तक .. प्रतिदिन सायंकाल ६॥ बजे

**भागवत-प्रवचन**

प्रवचनकार : श्री स्वामी परमात्मानन्द जी सरस्वती

परमार्थ निकेतन, स्वर्गाश्रम, हिमालय

एवं

**आध्यात्मिक प्रवचन**

*विषय :—"धर्म का शाश्वत सन्देश"*

प्रवचनकार : (१) कुमारी उमा शास्त्री, मानस भारती

(१९ वर्षीया बालिका

(२) चि० ऋषिकुमार (४ वर्षीय बालक)

(३) बालयोगी विष्णु अरोडा (१३ वर्षीय बाल॰

(५ एवं ६ फरवरी को)

★